न्याय का संघर्ष

यशपाल

विप्लव-पुस्तक-माला—२

न्याय का संघर्ष

लेखक—

यशपाल

प्रकाश-पाल

प्रकाशक—

विप्लव कार्यालय लखनऊ

प्रथम बार } सन् १९३९ ई० { मूल्य बारह आने

भूमिका

मनुष्य-समाज की आयु के बढ़ने के साथ-साथ उसकी आवश्यकतायें बढ़ने लगीं और इन आवश्यकताओं के बदलने और बढ़ने के साथ-साथ उसके क्रम में परिवर्तन आता रहा। मनुष्य-समाज के जीवन को किसी क्रम-विशेष या व्यवस्था के अनुसार संचालित करने के लिये जो परिस्थितियां जिम्मेदार हैं उनमें समाज का अपना अनुभव विशेष महत्वपूर्ण है। समाज के संचित अनुभवों के आधार पर खड़ी की गयी कल्पना ही हमारा समाजशास्त्र है। समाजशास्त्र का उद्देश्य है, समाज की रक्षा और विकास। जब समाज के विकास का मार्ग आगे बन्द होने लगता है तो समाज का शास्त्र गूढ़ चिन्तन और मनन द्वारा अपनी रक्षा के लिये नया कार्यक्रम बनाने के लिये बाधित होता है, यह बाधित होकर समाज द्वारा नये कार्यक्रम का तैयार किया जाना ही समाज में विचारों की क्रान्ति है।

समाज की जीर्ण व्यवस्था में परिवर्तन आने से पूर्व विचारों में क्रान्ति आना आवश्यक और प्राकृतिक क्रम है। सामाजिक क्रान्ति के मध्याह्न के लिये विचारों की क्रान्ति उषा के समान है। हमारा समाज अपनी पुरानी व्यवस्था के शिकंजे में छटपटा रहा है और नवीन व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव कर रहा है। यह लक्षण है विचारों की क्रान्ति का। दूसरे शब्दों में कहना होगा कि हम विचारों की क्रान्ति के युग से गुजर रहे हैं।

'न्याय की धारणा' मनुष्यसमाज को क्रम और नियंत्रण में रखने वाली आन्तरिक श्रृंखला है। समाज की प्रत्येक व्यवस्था और क्रम अपनी एक न्याय की धारणा रखता है जो कि उस सामाजिक व्यवस्था के पूर्णता के लक्ष्य और आदर्श की ओर संकेत करती रहती है। विचारों की क्रान्ति का काम होता है हमारी न्याय की धारणा को नये मार्ग पर लाना। इस पुस्तक में हमारी नवीन परिस्थितियों के लिये अनुपयुक्त और जर्जर न्याय की धारणा का विश्लेषण *Vivi Section* किया गया है। इस विश्लेषण में हमारी वर्तमान न्याय धारणा में मौजूद विरोधाभास क़दम क़दम पर प्रत्यक्ष हो जाते हैं। एक नवीन सामाजिक व्यवस्था और क्रम की ओर हमारा ध्यान जाता है।

न्याय की धारणा और समाज की व्यवस्था के समान रूखे विषय की विवेचना को भी रोचक और मनोरंजक बना देना इन लेखों की सार्थकता है। भाषा—प्रवाह के ऊपर तैरते हुए विद्रूप की तह में सिद्धान्तों की शिलायें मौजूद हैं। मनोरंजन और विद्रूप का अभिप्राय रूखे और गम्भीर विषय को रोचक बना देना ही है। इन लेखों को पढ़कर आपके होठों पर जो मुस्कराहट आयेगी वह आत्मविस्मृति और आनन्दोल्लास की न होकर क्षोभ परिताप और करुण की होगी।

इन लेखों में लेखक ने कलम की नोक से आत्मविस्मृत समाज को गुदगुदा कर जगाने की चेष्टा की है और समाज को करवट बदलते न देखकर कई जगह उसने कलम की नोक समाज के शरीर में गड़ा दी है।

नरेन्द्रदेव

विषय-सूची

लेख				पृष्ठ

समर्पण

यह उन्नीस लेख
हमारे उन सब साथियों के अर्पण हैं
जो
हमारी ही तरह न्याय के संघर्ष को
जीवन में अनुभव कर रहे हैं।

लखनऊ
जुलाई, १९३९ ई०

यशपाल
प्रकाश-पाल

न्याय का संघर्ष

हम सभी लोग न्याय की दुहाई देते हैं। न्याय के लिये दूसरों का सिर फोड़ने के लिये तत्पर रहते हैं। हमारे अपने विचार में जो न्याय है, उसी के अनुसार हम दूसरों को चलते देखना चाहते हैं। यदि दूसरे लोग हमारे निर्णय की अवहेलना करें या हमारा विरोध करें, तो उनका सिर फोड़ना ज़रूरी हो जाता है।

न्याय का जन्म जिस प्रकार हमारे दिमाग़ में होता है उसी प्रकार दूसरों के दिमाग़ में—हमारे विरोधियों के दिमाग़ में भी होता है। जैसे हम अपने दृष्टिकोण में जो न्याय है उसे लागू करना चाहते हैं, उसी तरह हमारे विरोधी भी अत्यन्त सद्भाव और सदाशय से अपनी समझ के अनुसार के न्याय को लागू करना चाहते हैं। जिस समाज की दृष्टि में जो न्याय है, उस समाज को ईश्वर—या उस समाज का ईश्वर वैसा ही शासन स्थापित करने की आज्ञा देता है।

शेरों और भेड़ियों के न्याय के अनुसार यह आवश्यक है कि हिरन और बकरियाँ सुबह-शाम स्वयं उनके समीप आ जाँय और शेर या भेड़िये को देखकर भागें नहीं। हिरन और बकरियों के न्याय के अनुसार शेरों और भेड़ियों को घास के मैदान या पानी पीने की जगह पर नहीं आना चाहिए, बल्कि एक ऐसी बिजली गिरे कि शेरों और भेड़ियों का नामोनिशान मिट जाय।

× × ×

ज़मींदारों की बात कितनी न्यायोचित है ! जो लोग उनकी मिल्कियत की ज़मीन को जोतें बोयें, उनकी ज़मीन से अन्न-धन पैदा करें, उनको क्या अधिकार है कि सब कुछ ले जाँय ? जिसकी ज़मीन है उसी का अधिकार पैदावार पर होना चाहिए। जिसके पेट से पैदा हुआ, उसी का बच्चा !

किसानों का न्याय कहता है, जिसके हाड़-गोड़ घिसने से ज़मीन से फल पैदा होता है, फल उसी का है। ज़मीन से स्वयं तो कुछ पैदा हो नहीं सकता। फल ज़मीन का नहीं, मेहनत का है।

ज़मीन तो किसी की नहीं। उसे किसने बनाया है ? घेर कर अधिकार कर लेने से ही मिल्कियत अगर हो जाय, तो कोई भी दस आदमियों को मिला कर लाठी बाँधकर ज़मीन घेर सकता है। इसमें झूठ क्या है ? पंजाब के शेर रणजीतसिंह ने क्या किया था ? छत्रपति शिवाजी ने क्या किया था ? हैदरअली ने क्या किया था ?

ज़माना बदल गया है, अब ऐसा नहीं हो सकता। हां, कोई चाहे तो बहुत सा रुपया लगा कर ज़मीन ख़रीद सकता है। रुपया भी एक साधन है। लाठी का ज़ोर भी एक साधन है। फ़र्ज़ कीजिए—सरकार का दिमाग़ फिर जाय, वह ज़मींदारों के हक़ को जैसे आज स्वीकार करती है, स्वीकार करना छोड़ दे। ऐसी अवस्था में न्याय बदल जायगा। किसानों की ही राय न्याय हो जायगी।

× × ×

जिसकी सम्पत्ति हो, जिसकी मिल्कियत हो उससे किसी दूसरे को छीन लेने का क्या अधिकार ? वह उसे चाहे जिस मोल बेच सकता है, यह बिलकुल न्याय-अनुमोदित है। इस तरह धनी बन जाने से न ईश्वर ही नाराज़ हो सकता है, न वह न्याय के विरुद्ध है, न कचहरी,

न्याय का संघर्ष

अदालत को ही इसमें दखल है। कहते हैं—हमारे गाँव के ज़मींदार के दस गाँव थे। फ़सल में उन्होंने अनाज के कोठे भरे। आये साल फ़सलें ख़राब हो गयीं। ईश्वर की इच्छा हुई, अनाज महँगा बिका। मुनाफ़ा हुआ। सेठ जी ने दो गाँव और ख़रीद लिये।

× × ×

ज़रा आँख खोल कर देखने से मालूम होता है कि मेरा जिस तरह से हित हो, मेरे लिये वही न्याय है। यदि मैं अपनी शक्ति से, चाहे वह शारीरिक हो या दिमाग़ी, अपने हित के लिये काम करने को दूसरों को बाधित कर सकता हूँ, तो वही दूसरों के लिये भी न्याय है।

आजकल ज़माना अच्छा है। मनुष्य की शक्ति का सार जमा किया जा सकता है। आँख चाहिए देखने के लिये! सेठ जी की तिजोरी की तरफ़ देखिए। उसमें एक लाख रुपये के नोट नहीं। ज्ञान-शलाका लगा कर देखिए—तिजोरी में चार लाख आदमी बंद हैं। उनकी पीठ पर बोझ ढोने की तैयारी है, हाथों में कुल्हाड़ी, फावड़े और मेहनत के औज़ार हैं। यदि सेठ जी की इच्छा हो, तो अभी यह स्थूल प्रत्यक्ष रूप धारण कर काम करने लग सकते हैं। सेठ जी जो चाहें कर डालें—पृथ्वी के एक भाग को पलट डालें।

× × ×

गरमी की रात है, नींद नहीं आती। मेरी जेब में एक चवन्नी है। यदि मैं लोभ न करूँ, तो आराम से सो सकता हूँ। चवन्नी में एक आदमी छिपा है। उसके हाथ में एक पंखा है। वह रात भर मुझे पंखा कर सकता है।

मैं पूछता हूँ—'किसके मुँह में हाथ भर की ज़ुबान है जो कहे कि यह अन्याय है कि मैं सोऊँ और दूसरा मुझ सा ही आदमी रात भर खड़ा-खड़ा पंखा करे ? क्या उसके जान नहीं ?'

मैं पूछता हूँ—'क्या मेरे हाथ में चवन्नी नहीं, मैं चवन्नी की मेहनत नहीं लूँगा ?'

न्याय है शक्ति में ! शक्ति के अनेक रूप हैं। सब से अच्छा रूप शक्ति का है पैसा। यह सम्हाल कर वक्त के लिये रखा जा सकता है। ज़रूरत पड़ने पर ख़र्च किया जा सकता है। इस पैसे में से ज़मीन के जोतने-बोने वाले किसान, सुबह से शाम तक आँखें गड़ाकर दिमाग़ लड़ाने वाला मुंशी, वरदी पहन कर हुक्म मनवाने वाला सिपाही और तोप तलवार लेकर आतंक छा देने वाला सैनिक सब निकल सकते हैं। यह मनुष्य का उसकी श्रमशक्ति का संचित सत है। यह है न्याय का हथियार !

जिसके पास यह शक्ति है उसी की इच्छा न्याय है। मनुष्य की शक्ति का यह सार कोई अपने ही शरीर से खींचना चाहे, तो नहीं खींच सकता—मर जायगा कमबख्त। हाँ, दूसरों के शरीर से थोड़ा-थोड़ा लेकर—उनके श्रम को पैसे के रूप में बदल कर यह एकत्र किया जा सकता है। जिस अनुपात में किसी व्यक्ति के पास मनुष्य के संचित श्रम का भण्डार है उसी अनुपात में वह शक्तिशाली है, न्याय का निर्णायक है।

× × ×

एक ज़माना था जब एक मनुष्य की इच्छा ही न्याय थी। वह राजा कहला कर जो हुक्म दे देता था, वही न्याय था। वह चाहता तो मंत्री हाथी के पैर के नीचे कुचल दिया जाता, शहर ग्राम फूँक दिये जाते।

न्याय का संघर्ष

वक़्त आया, राजा की स्वेच्छाचारिता अन्याय मालूम होने लगी। सरदारों-सामन्तों के हाथ में भी शक्ति आ गयी। न्याय में उनकी इच्छा और राय को दख़ल हो गया। राजा उनकी सम्मिलित शक्ति के आगे दब गया। वे जो चाहते थे वही क़ानून था।

ज़माना पलटा, व्यापार ने ज़ोर पकड़ा। धन का ठेका एकमात्र सरदारों-सामन्तों के हाथ से निकल व्यापारियों, कल-कारख़ानों के मालिकों के हाथ में पहुँचा। शक्ति आने के साथ उन्हें ही लोग वोट देने लगे। अपने प्रतिनिधियों के ज़रिये न्याय में उनका भी कुछ कुछ दख़ल होने लगा।

ज्यों ज्यों शासक समाज की शक्ति क्षीण होने लगती है या अपने हाथ से शक्ति निकल जाने का उन्हें भय होने लगता है, वे अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये प्रजा के कुछ अंश को अपना साझी बना उन्हें न्याय में दख़ल देने का अधिकार बाँटते जाते हैं या प्रजा के सामर्थ्यवान अंश के संतोष के लिये न्याय का रूप उन्हें बदलना पड़ता है।

आज भी हमारे देश में न्याय क्या है? इसमें अपने प्रतिनिधियों की मार्फ़त दख़ल देने का अधिकार एक हद तक उन्हीं को है जो लगान या टैक्स देते हैं, जिनके पास कुछ सम्पत्ति है। इन लोगों की राय में न्याय वही है, जिससे इनकी सम्पत्ति की बढ़ती हो, वह अक्षुण्ण बनी रहे। सब से बड़े पूँजीपति ब्रिटिश साम्राज्य ने अपनी शक्ति की रक्षा के लिये छोटे छोटे पूँजीपतियों को अपने चक्कर में सम्मिलित कर लिया है, परन्तु इन दस प्रतिशत * के अलावा

---

* सन् १९१५ के शासन-सुधार के अनुसार वैधानिक सभा के चुनाव में वोट देने का अधिकार कुल २० प्रतिशत भारतवासियों को है।

जो नब्बे प्रतिशत है उनके हक़ में क्या न्याय है, इसकी चिंता किसे है ?

× × ×

स्वर्ग अपने ही मरने से मिलता है। नब्बे प्रतिशत के लिये यदि न्याय की चिन्ता किसी को हो सकती है, तो इन नब्बे प्रतिशत को ही होनी चाहिए। जब तक न्याय का निर्णय दस प्रतिशत के हाथ में रहेगा तब तक न्याय की कसौटी यही रहेगी कि नब्बे प्रतिशत के श्रम से दस प्रतिशत का काम चलता रहे। दस प्रतिशत का कल्याण इसी में है कि नब्बे प्रतिशत उन्हें 'पिता'* के स्थान पर मानकर 'पुत्र'* की तरह आज्ञा-पालन करते रहें। समाज के शरीर के हाथ-पाँव बन समाज के पेट—दस प्रतिशत—को भरते रहें। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो वे न्याय और ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध जाते हैं; 'राम-राज्य' में विघ्न डालते हैं। मुश्किल है तो यह, कि नब्बे प्रतिशत यह कैसे मान लें कि ईश्वर की आज्ञा नब्बे प्रतिशत को भूखा ही रखने की है।

× × ×

मनुष्य की संचित शक्ति का एक रूप पूँजी है, तो दूसरा रूप 'संघ-शक्ति' है। नब्बे प्रतिशत के पास यह दूसरी शक्ति बहुत बड़ी मिक़दार में है। अभी तक उन्होंने इस शक्ति को नहीं पहचाना, क्योंकि अब तक ज्यों-त्यों प्राण बच रहे थे, परन्तु अब पूँजी की शक्ति का पंजा इतना कड़ा हो गया कि साँस लेना मुश्किल है। यदि नब्बे प्रतिशत अब अपनी इसी शक्ति के आधार पर न्याय न माँगें तभी ताज्जुब है।

---

*गांधी जी कहते हैं—'ज़मींदार और किसान का सम्बंध पिता-पुत्र का है।'

न्याय का संघर्ष

समय समय पर न्याय में संघर्ष होता आया है और उसका रूप बदलता रहा है। यदि नब्बे प्रतिशत अपने भाग्य के निर्णय का बोझ स्वयं सँभाल कर न्याय के रूप में परिवर्तन करना चाहते हैं, तो इसे मानना ही पड़ेगा। यदि हम पूँजी और संघ की शक्ति की टक्कर नहीं देखना चाहते तो नब्बे प्रतिशत की स्वीकार कर लेने के सिवा और मार्ग नहीं।

गान्धीवाद—

नवयुग का प्रतीक, या

युगान्त का ?

जीवन का उद्देश्य क्या है ? यह प्रश्न मनुष्य को मनुष्यता के उद्भवकाल से ही परेशान किये है। मानवता के उषाकाल से मनुष्य ने समय के सागर के किनारे बैठ इस समस्या के समाधान में कितने ही घरौंदे बनाये और फिर सूझ के बढ़ने के साथ इन समाधानों की विरूपता से विषण्ण होकर उसने उन्हें मिटा भी दिया और फिर सुदूर अशेष अनन्त की ओर देख-देख वह चिन्ता में मग्न हो गया।

हमारे पूर्व-पुरुषों ने, जिनके अगाध ज्ञान को संसार में फैलाने के लिये हम व्याकुल हैं, अपनी सम्पूर्ण मानसिक और शारीरिक शक्ति केवल मृत्यु की समस्या को सुलझाने में व्यय कर दी। मृत्यु की दृष्टि से ही उन्होंने जीवन के उद्देश्य को देखा। चिर-सत्य मृत्यु मनुष्य के उद्भव से पूर्व ही मुँह बाकर उसके मार्ग में आ खड़ी हुई और मनुष्य अपनी असंख्य कल्पना-विकल्पना से भी उसे परास्त नहीं कर पाया।

एक तरह से कर भी पाया। मृत्यु के भय के कारण ही मृत्यु का सब महत्व मनुष्य की दृष्टि में है। हमारे ऋषियों ने कहा, मृत्यु कुछ नहीं, एक

भ्रम है, आत्मा शाश्वत है। दूसरे आप्त पुरुषों ने निर्धारित किया, यह संसार ही भ्रम है, बन्धन है, इससे मुक्ति ही मृत्यु है। तब मृत्यु से डरना क्यों?

जीवन—मनुष्य का जीवन, व्यक्तिगत रूप से ही पूर्ण है, या वह केवल समाज के बृहत् शरीर का अंग मात्र है? यह दूसरा प्रश्न है, जिसे मनुष्य बोध और संस्कृति के विकास के साथ सोचने लगा। जैसे मनुष्य के शरीर में प्रतिक्षण सहस्रों जीवकोष्ठ मरते रहते हैं और उनके स्थान में उनसे अधिक उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य-समाज के शरीर में व्यक्ति का मरना-जीना है। यदि इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज के जीवन की व्यवस्था करने की बात सोचें, तो शायद मृत्यु से परेशान होने की कोई ज़रूरत न मालूम होगी।

भारतीय दार्शनिक विचार-धारा का आधार सदा व्यक्ति रहा है। हमारी आध्यात्मिकता जीवन को व्यक्तित्व की दृष्टि से देखकर ही सदा पनपी और विकसित हुई है। जीवन को जीतने का उपाय हमने समझा है जीवन से उपराम हो जाना। जीवन को पूर्ण करने का उपाय हमने समझा है जीवन को संक्षिप्त करते चले जाना और जीवन में सन्तोष और समृद्धि प्राप्त करने का उपाय हमने निश्चित किया है इच्छा न करना, आवश्यकताओं को कम करते चले जाना। आवश्यकताओं को कम करते जाइए, ऊंची-ऊंची कल्पना कीजिए, जीवन पूर्ण सन्तुष्ट और सुखमय हो जायगा।

हमारे देश की वर्त्तमान राजनैतिक और सामाजिक तनातनी की परिस्थिति में गांधीवाद उपर्युक्त वृत्ति को ही सब समस्याओं का हल बताता है। हमारे देश और समाज को सदा परलोकाभिमुख ऋषियों की नीति पर चलने का अभिमान रहा है। आज भी हमारा वह

अभिमान अक्षुण्ण है। आज दिन भी हमारे राजनैतिक संग्राम के सेनानी हैं, हमारे राजनैतिक ऋषि महात्मा गांधी। आज तक का इतिहास हमें बताता है कि धर्म और राजनीति अपने-अपने क्षेत्र में अलग-अलग अपना-अपना आधिपत्य चलाते रहे हैं और जब दोनों को अलग-अलग आधिपत्य क़ायम रखना सम्भव नहीं रहा, तब धर्म को राजनीति के अधीन होना पड़ा। हमारे देश में, हमारे आज दिन के राजनैतिक संघर्ष में, महात्मा जी के नेतृत्व में राजनीति को धर्म की आधीनता में आना आवश्यक हो रहा है।

धर्म शब्द का व्यवहार हम साधारणतः बहुत व्यापक अर्थों में करते हैं। यहाँ हम 'मज़हब' या 'रेलिजन' के ही अर्थों में इस शब्द को ले रहे हैं। धर्म और राजनीति की तुलना करते समय हमें यह देखना पड़ेगा कि इन दोनों विचार-धाराओं का आधार क्या है?

धर्म का आधार है पारलौकिक विश्वास और उसका दृष्टिकोण वैयक्तिक है। व्यक्ति वैराग्य की चरम सीमा पर पहुँचकर भी संसार में समाज की पूर्ण अवहेलना नहीं कर सकता। परन्तु मृत्यु के द्वार से हम जिस काल्पनिक लोक में पहुँचते हैं, वहाँ समाज का दख़ल नहीं। वहां व्यक्ति अकेला ही जाता है, या 'धर्मैको गच्छति केवलम्'। उस लोक की कामना और कल्पना से प्रेरित होकर मनुष्य जिस धर्म का संचय करता है, उसमें वह नितान्त रूप से आत्म-हित की ही बात सोचता है—ऐसा आत्म-हित कि उसमें किसी का भी साझा नहीं रहता। यदि वह 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' व्यवहार करने के लिये मजबूर होता है, तो वह समाज के कल्याण के प्रति व्याकुल होकर नहीं, अपितु अपने निस्सर्ग जीवन को समाज में पग-पग पर ठोकर खाने से बचाने के लिये ही ऐसा करता है।

इसके विपरीत राजनीति का उद्देश्य है, समाज की इहलौकिक सफलता और समृद्धि। राजनीति का आधार है सामाजिक संगठन और मानव-समूहों का परस्पर संघर्ष। उसका दृष्टिकोण है सामाजिक। धर्म का आधिपत्य राजनीति पर होने से एक विचित्र दोगली नीति का समुद्भव होना अनिवार्य है, जिसमें राजनीति अवश्यम्भावी रूप से पंगु और निःशक्त हो जायगी। समाज की इस लोक की कल्याण-साधना के मार्ग में व्यक्ति की पारलौकिक चिन्ता ज़रूर रोड़ा अटकाएगी। हमारे देश में गांधीवाद के नाम से जो धर्ममिश्रित राजनीति चालू है, उसमें इस प्रकार का वैषम्य और विरोधाभास हमें क़दम क़दम पर दिखाई देता है।

गांधीवाद मुख्यतः संकेत करता है अहिंसाव्रत की ओर। मनुष्य-समाज में शायद ही कोई ऐसा विचारक हुआ होगा, जिसने हिंसा का समर्थन उसके हेय अर्थों में किया हो। यदि हम भावुकता को किनारे रख यह देखने का यत्न करें कि हिंसा का अर्थ समाज में, राजनीति में या प्रकृति में क्या है, तो हम इसे पाप का समानार्थक नहीं कर सकेंगे। हिंसा का अर्थ कोष में जो हो—व्यवहार में तटस्थ होकर देखने पर हम इसे 'अप्रिय' का ही द्योतक पायेंगे। किसी भी वस्तु की स्थिरता और स्थापना के लिए अपनी परिस्थिति (Surroundings) से सम्बद्ध होना ज़रूरी है। परिवर्तन के समय इन सम्बन्ध-स्थापक तन्तुओं का टूटना आवश्यक है। यदि यह तन्तु न होते, तो स्थिरता नहीं हो सकती थी, और यदि तन्तु न टूटे तो परिवर्तन असम्भव हो जायगा। परिवर्तन के अभाव में, प्रगति रुक जाने पर समाज का जीवन क्योंकर सम्भव हो सकता है ? हम अपने रोज़मर्रा के जीवन में देखते हैं कि गति और शक्ति समानार्थक हैं। जब इस गति

और शक्ति का प्रयोग हमारे हितों और रुचि के विरुद्ध होता है, अप्रिय होता है तभी हम हिंसा का अनुभव करते हैं। वैयक्तिक दृष्टिकोण से हिंसा की यही कसौटी हमें दिखाई देती है। सामाजिक दृष्टिकोण से भी इसमें अपवाद की गुंजाइश हमें दिखाई नहीं देती। हम यह भी कह सकते हैं कि हिंसा और अहिंसा के भेद की नींव हमारी न्याय और अन्याय की धारणा पर है। जो प्रयत्न—या शक्ति का जो प्रयोग, हमारी समझ के मुताबिक़ न्याय के समर्थन के लिए किया जाता है, वह अहिंसा है और इसके विपरीत हिंसा। गांधीवाद की रूह से हिंसा या अहिंसा की उपयुक्त व्याख्या सही नहीं। बल्कि यही कहना होगा कि गांधीवाद में हिंसा और अहिंसा की निर्णायक कसौटी समाज-हित नहीं, व्यक्ति की धर्म की अनुभूति या धर्म-बुद्धि है। धर्म-बुद्धि से अभिप्राय कर्त्तव्य का विवेक नहीं, अपितु परलोकाभिमुख वैराग्य-बुद्धि है।

(२)

हम यह नहीं कहते कि विशुद्ध राजनीति में केवल मारकाट और रक्तपात को ही स्थान है। हम यह नहीं कहते कि संसार के सबसे बड़े राजनीतिज्ञ नादिरशाह थे। मारकाट की पाशविक हिंस्र प्रवृत्ति बर्बरता का अवशिष्ट चिह्न है। मनुष्य न पशु है और न मशीन, जो केवल 'हार्स-पावर' से काम लेगा। उसमें जो मनुष्य नाम का पदार्थ है, वही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। युक्ति और प्रेरणा हमारी मौजूदा संस्कृति के सबसे अनुरूप साधन हैं। आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था का आदर्श, प्रजातंत्र शासन-प्रणाली और प्राचीन नीति के आदर्श शक्ति प्रयोग में आधारभूत भेद है। संस्कृति के विकास के साथ-साथ हम शस्त्र-शक्ति के प्रयोग से दूर हटते

जाते हैं। उसे हम बर्बरता या समाज की मूढ़ता का चिह्न समझते हैं। युक्ति और प्रेरणा की ओर मनुष्य-समाज की उत्तरोत्तर प्रवृत्ति उसके इसी आदर्श की ओर संकेत करती है और उसके विकास का प्रमाण है। शस्त्र-शक्ति की जो हम बिल्कुल उपेक्षा नहीं कर पाते, वह कुछ अभ्यास दोष से और कुछ आशंका और अविश्वास के कारण हम यह दावा नहीं कर सकते कि आज दिन हम संस्कृति की चरम सीमा पर पहुँच गये हैं। हम विकास की एक मंज़िल तक पहुँचे हैं, जिसमें हमारा साधन और नीति पूँजीवाद की प्रणाली रही है। पूँजीवाद की प्रणाली पर चलकर इस मंज़िल तक पहुँचने के लिये यह आवश्यक था कि समाज भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभक्त रहे। पूँजीवाद की उपयोगिता समाप्त हो जाने पर भी समाज उसे एक तरफ़ नहीं फेंक दे सका। श्रेणियों का वह भेद जो एक दिन उसके विकास के लिये ज़रूरी था, जो उसकी आन्तरिक प्रेरक शक्ति था, वही उसके मार्ग का अवरोधक हो रहा है। इस भेद के परिणाम स्वरूप समाज में एक तनातनी और संघर्ष की जलन फैल रही है, इसलिये हिंसा और बल-प्रयोग भी दिखायी पड़ रहा है। आज जो हम फ़ासिज़्म और नाज़िज़्म का रूप देख रहे हैं, यह समाज में आ रहे परिवर्तन की भयंकर तड़प है।

आचार्य कृपलानी ने अपनी पुस्तक 'हिंसा का पराजय' (The Conquest of Violence) में इस बात पर ज़ोर दिया है कि समाज में वैयक्तिक आचार का दर्जा बहुत ऊंचा उठ गया है, अब उसे हिंसा के दोष से मुक्त हो जाना चाहिए, किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि संसार को व्यस्त कर देनेवाली हिंसा और तनातनी, यदि उसके मूल में व्यक्ति की स्वार्थ-बुद्धि नहीं, श्रेणियों का वैमनस्य मिट

जाने पर स्वयं दूर हो जायगी। श्रेणी-भेद या स्वार्थों का संघर्ष क़ायम रहते वह मिट नहीं सकती। एक सर्व-शक्तिमान अमर शक्ति की इच्छा पर संसार का संचालन निर्भर मान लेने पर और श्रेणियों का सृजन भी उसी शक्ति का वरदान समझ लेने पर हम समाज में चिर शान्ति और चिर अहिंसा के लिए सिवाय प्रार्थना करने के और कोई उपाय नहीं कर सकते।

महात्माजी का विश्वास है कि उस दैवी परोक्ष शक्ति ने उन्हें एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये संसार में भेजा है। भगवान के प्रतिनिधि की हैसियत से भगवान की व्यवस्था में परिवर्तन उन्हें कैसे स्वीकार हो सकता है? परन्तु समाज भगवान को पूछे बिना ही वैमनस्य और तनातनी के कारण श्रेणी-भेद को मिटाने की ओर अग्रसर हो रहा है। उसका आधार और दृष्टिकोण हैं सामाजिक और उद्देश्य है समृद्धि। इसके विपरीत गांधीवाद की अहिंसा का आधार और दृष्टिकोण है वैयक्तिक और उद्देश्य, चरम शान्ति और निर्वाण।

गांधीवाद परिस्थिति को देखकर या इहलौकिक लक्ष्य को लेकर नहीं चलता। अपने लक्षणों से वह नीति (Policy) नहीं। इसे नीति या पालिसी कहना उसे गाली देने के बराबर है। वह एक आदर्श है, जो सांसारिकता से परे, पारलौकिक ध्येय को लक्ष्य कर चलता है। अभी मई (१९३८) में साम्प्रदायिक दंगों के अवसर पर कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों द्वारा राजशक्ति के प्रयोग से आततायियों के दबाये जाने पर महात्मा जी को अनुभव हुआ कि कांग्रेस पथ से च्युत होती चली जा रही है। गांधी जी की दृष्टि में देश में शासन का प्रयोजन सुव्यवस्था और समृद्धि की अपेक्षा अहिंसा व्रत को ही चरितार्थ करना है।

(२)

इतिहास में ऐसा पहले कभी न हुआ हो, सो बात नहीं। महात्मा बुद्ध ने भी इस अहिंसा का प्रचार किया था। निर्वाण को ही लक्ष्य कर वह अहिंसावाद उस समय खूब फैला। परन्तु समाज की आवश्यकताओं के साथ मेल न खाने के कारण वह समाज की नीति न बन सका। केवल व्यक्ति को आध्यात्मिक और चरम शांति का वचन देकर रह गया। गांधीवाद भी बुनियादी तौर पर वैयक्तिक साधना की चीज़ है। इस विज्ञान के युग में, भौतिकवाद के युग में अपार्थिव, परोक्ष, दैवी शक्ति से प्रेरणा ग्रहण कर राजनीति कहाँ तक चलेगी? गांधीवाद का भविष्य क्या होगा? यदि यह प्रश्न हम इतिहास से पूछें, तो हमारे सामने बौद्ध-धर्म का उदाहरण आ उपस्थित होगा।

आज जो गांधीवाद का बोलबाला है, वह इसके सिद्धान्तों की तर्क-संगति के बल पर नहीं। वह है महात्माजी के आकर्षक और मोहक व्यक्तित्व के कारण। ईसाई देशों में हम ईसाई धर्म के प्रभाव को और ईसा के व्यक्तित्व को पृथक्-पृथक् देख सकते हैं। इसी प्रकार गांधीवाद यदि किसी दिन सार्वजनिक विश्वास और व्यवहार की चीज़ हो जायगा, तो उस दिन हम गांधीवाद और गांधी के व्यक्तित्व को भी पृथक्-पृथक् देखने लगेंगे।

परिस्थितियों ने बुद्ध, ईसा और मुहम्मद को गढ़कर तैयार किया। मानव-समाज का मस्तिष्क अपनी अविकसित अवस्था में छटपटाकर, अज्ञेय क्षेत्र में हाथ फैलाकर, सहारा ढूंढने का प्रयत्न करता रहा है। उसने सहारा पाया; परन्तु ज्यों-ज्यों ज्ञान का प्रकाश अज्ञेय के लोक में घुसा, अज्ञेय की सीमा को संकुचित करने लगा, त्यों-त्यों उसके यह सहारे छाया की तरह विलीन होने लगे। गांधीवाद भी अपेक्षाकृत विकसित,

आधुनिक समाज की कल्पना है—एक आश्रय ढूँढने की छटपटाहट है। अपार्थिव लोक में टेक पाने की साध इस द्रुतगामी युग में कितने दिन फलवती हो पायेगी? अध्यात्मवाद और पूँजीवाद की पुरानी रूढ़ियों और संस्थाओं को जो सहारा गांधीवाद आधुनिक अध्यात्मवाद का रोग़न पोतकर दे रहा है, वह कितने दिन टिक सकेगा? गांधीवाद नवयुग का प्रतीक है, या युगान्त का? समय इस प्रश्न का उत्तर शीघ्र ही देगा।

जीवन का आधार

—"Man does not live by bread alone"

बाइबिल में कहा है, मनुष्य केवल भोजन से ही जीवित नहीं रह सकता। यह वाक्य आध्यात्मिक उद्देश्य से कहा गया है, परन्तु मनुष्य के साधारण जीवन-क्रम में भी यह उतना ही सत्य है जितना कि मसीह की दृष्टि में आध्यात्मिक दृष्टि से था।

आत्मा परमात्मा की चर्चा मनुष्य अपने आत्मिक या मानसिक विकास के अनुपात से सदा ही करता रहा है और न जाने कब तक करता रहेगा! जो लोग प्राचीन अन्ध-विश्वास से खीझ कर आत्मा परमात्मा की धारणा के विरुद्ध जिहाद करते हैं, वे भी केवल खा-पीकर जीवन को परिपूर्ण समझने का दावा नहीं कर सकते। भौतिक तथा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त उन्हें भी कुछ और चाहिए। आत्मा परमात्मा में अन्ध-विश्वास या मानसिक दासता के विरुद्ध जिहाद करने के लिये वे आतुर क्यों हो उठते हैं? ऐसा न करने से सर में दर्द या पेट में मरोड़ तो उठता नहीं, जोड़ों के दर्द की भी यह दवा नहीं। फिर भी पेट भर खा-पीकर नरम बिस्तर पर उन्हें चैन की नींद क्यों नहीं आती?

शारीरिक आवश्यकताओं से परे, इस स्थूल जगत् से परे, कुछ ऐसा है अवश्य, जो मोटी नज़र से प्राण-रक्षा के लिये अनिवार्य न जान

पड़ने पर भी अनिवार्य ही है। जीवन के लिये कुछ परमावश्यक भावना है ज़रूर ! और यह जो स्थूल जीवन के परे सूक्ष्म परमावश्यक भावना है, सम्भवतः इसे हम 'मनुष्यता' की एक परिभाषा कह सकते हैं।

मनुष्य में हँसने की, अपने आपको भूल जाने की इच्छा उसकी मनुष्यता का एक ख़ास अंग है। मनुष्येतर प्राणियों में भी ऐसी भावना है ज़रूर पर, वह इतनी कम विकसित है कि हम लोगों को उसका स्पष्ट अनुभव नहीं हो पाता। वह उनके जीवन में अत्यन्त गौण है। उनके जीवन-रक्षा के साधन इतने अविकसित हैं कि जीवन-रक्षा में ही उनकी सम्पूर्ण शक्ति व्यय हो जाती है। उनमें जीवन की विपुल शक्ति का उच्छ्वास (Exuberance of superfluous energy) उतना प्रत्यक्ष और प्रकट नहीं होता जितना कि मनुष्य में।

जीवन की शक्ति का उच्छ्वास मनुष्य की आदिम अवस्था में भी उतना ही स्पष्ट था जितना की बीसवीं सदी की अत्यन्त सभ्य अवस्था में है। हमारे जहाँगीर और वाजिद अली शाह की रंग-सभाएँ, ओपेरा, नाशियोनाल पारी के तमाशे, अमेरिकन जैज़ और ज़ुलू तथा सुडानी लोगों का सुरा-पान कर अग्नि-स्तूप के चारों ओर नृत्य करना, दो भिन्न चीज़ें नहीं। जीवन-रक्षा की आवश्यकताएँ हमें जितना व्यस्त करती हैं, जीवन-शक्ति के उच्छ्वास को तृप्त या प्रकट करने की आवश्यकताएँ हमें उससे कम व्यस्त नहीं करतीं।

'मद' को सभी धर्म-गुरुओं ने 'धर्म-ज्ञान' का घातक कहा है, परन्तु 'मद' मनुष्य के विकास का उतना ही आदिम अंग है जितना कि 'धर्म-ज्ञान'। जब मनुष्य ऊषा के बालसूर्य, सुनील आकाश और भयंकर आँधी के सन्मुख दण्डवत कर अपने कल्याण का बीमा कर लेने का

विश्वास कर लेता था, तब भी 'मद' उसके साथ था। मालूम होता है 'मद' और धर्म-विश्वास, मनुष्य-जीवन के एक समान आवश्यक अंग हैं।

'धर्म-ज्ञान' और 'धर्मभाव' का आविष्कार मनुष्य ने शोक, संताप और भय से बचने के लिये किया है। 'मद' का आविष्कार उसने किया है भय को भूल कर सुख और आह्लाद की अनुभूति के लिये। फ़र्क़ कुछ नहीं। अभिप्राय और लक्ष्य है—दुःख की अनुभूति से बचना, सुख की अनुभूति की चाह। धर्म-निवारक (Negative) और मद-पोषक (Positive) साधन हैं। जिन दो व्यक्तियों ने पहले-पहल 'धर्म' और 'मद' का आविष्कार किया था, वे मनुष्य-समाज की परम कृतज्ञता के पात्र हैं।

ईस्टर भी धार्मिक त्योहार है, परन्तु उसमें भी 'धर्म' तो रह जाता है ओट में और मुख्य रूप से आगे आता है, आनन्दोल्लास! यही हाल क्रिसमस का है। ईसाई देशों में क्रिसमस के समय 'मद' के झाग का जो प्रवाह बहता है और 'बाल' नाच का जो बवंडर उठता है उसमें बेचारे मसीह का जन्म बिलकुल डूब जाता है।

मुसलमानों का मुहर्रम सरासर ग़म और आहोज़ारी का दिन है, लेकिन उस दिन भी जीवन-शक्ति का उच्छ्वास कितना विकट और प्रत्यक्ष होता है! उस दिन ग़म इतना प्रबल नहीं होता जितना जोश! किसी के 'धर्मभाव' और 'धर्म-अभिमान' को चोट न पहुँचाने के लिये, डरते-डरते कहूँगा कि इस 'हाय हुसैन' कह कर पीटने में छाती से लहू बहाने में भी एक संतोष का उन्माद है।

हिन्दुओं के त्योहारों का कहना ही क्या। मानों हमेशा आनन्द में पागल हो जाने का बहाना ढूँढते फिरते हैं। होली को ही लीजिए।

होली के दिन तो जो कुछ न हो जाय वही ग़नीमत। भारत में होली के अवसर पर जीवन-शक्ति का जितना उत्कट उच्छ्वास होता है, मेरे विचार में उसे यदि नियमित रूप से संचित कर संसार के बड़े से बड़े साम्राज्य की जड़ में लगा दिया जाय, तो वह साम्राज्य की अडिग चट्टान को डाइनामाइट की तरह उड़ा देगा।

मनुष्य आनन्द में पागल होकर अपनी शक्ति का व्यय क्यों करता है ? शरीर को पुष्ट करने के लिये व्यायाम करके भी मनुष्य अपनी शक्ति को व्यय करता है। शारीरिक शक्ति के व्यय से शरीर सशक्त होता है, उसी प्रकार आनन्द में उच्छ्वसित होकर जीवन-शक्ति बहाने से जीवन-शक्ति और जीवन के उच्छ्वास बढ़ते हैं। इसीलिये राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिये नाच, गान, मेले, तमाशे, नाटक, दंगल आदि बहुत ज़रूरी हैं। वे समाज में जीवन-शक्ति उत्पादन करने वाली ग्रन्थियाँ (glands) हैं। हमारे मन्दिर, मस्जिद और धर्म-स्थान राष्ट्र के शरीर में नासूर हैं, जो उसकी स्वाभाविक उन्नति को रोक कर उसे सुस्त और निष्प्रभ बनाने की चेष्टा करते हैं। 'गाब्रीलद-अनजियो' ने एक जगह लिखा है—'एक विशाल गिर्जाघर की अपेक्षा एक कूड़े गोबर का ढेर अधिक मूल्यवान है। उससे खेत की शक्ति तो बढ़ेगी।'

मतलब यह है कि हमारा आनन्दोच्छ्वास हमारी जीवन-शक्ति का एक सहायक स्रोत है। वह हमारे जीवन-प्रवाह में शक्ति को बढ़ाने का एक उपकरण है, परन्तु हमारे धर्मशास्त्र आनन्दोच्छ्वास को नरक का द्वार बताते हैं। नाच, गान, थियेटर, सिनेमा, दंगल, मेले आदि इनकी दृष्टि में पाप हैं परन्तु मैं समझता हूँ और हर एक निष्पक्ष आदमी मानेगा कि यह सब जीवन-शक्ति के छोटे-छोटे स्रोत हैं। यह समाज के शरीर में जीवन-शक्ति उत्पादन करने वाली ग्रन्थियाँ (glands) हैं।

आज होली है ! जेल की होली ! आज मेरी जेल की छठी होली है। मैं त्योहारों के दिन प्रायः निष्प्रभ हो जाता हूँ और होली के दिन तो ख़ास तौर पर ! वजह क्या है ?

ऐसी वजहों को खोल कर जाँच लेना, उनके तरस्तर की पड़ताल कर लेना बहुत कठिन समस्या है—

आज होली के दिन जेल ख़ास देखने की चीज़ है। क़ैदियों को आज उत्सव मनाने की और आनन्द मनाने की मनाही है। इससे उनके शोक की सीमा नहीं। मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार भी उनसे छीन लिया गया है। आज जेल पर कैसी विरूपता छा रही है।

लेकिन इतने पर भी धमक-चमक की आवाज़ आ रही है। कहीं तबला बज रहा है, कहीं मटका खटक रहा है। हँसने-गाने से, आनन्द मनाने से सज़ा मिलेगी, लेकिन इस वृत्ति को रोकना कितना कठिन है ! आनन्द का आकर्षण कितना विकट है !

आनन्द और जीवन में फ़रक़ ही कितना है ! आज के दिन यदि क़ैदियों को खाना रोक कर उन्हें गाने, बजाने और हँसने की इजाज़त दे दी जाय, तो वे बहुत ख़ुश होंगे।

इसीलिये तो कहता हूँ—मनुष्य के जीवन का आधार केवल भोजन ही नहीं।

—होली, १६३६

समाज का चोखटा चर्रा रहा है !

एक सर्वशक्तिमान भगवान हैं, जिनकी एक चुटकी बजाने से इस सृष्टि की रचना हो जाती है, दूसरी चुटकी बजाने से विनाश। उन्हीं लीलामय ने एक दिन अँगड़ाई लेकर विनोद की इच्छा से इस जगत् की रचना कर दी और फिर इस जगत् की देखभाल करने के लिये, इसका स्वामित्व करने के लिये अपने ही रूप में मनुष्य की रचना कर दी और कहा—बेटा, यह संसार तेरे लिये है !

भगवान् ने मनुष्य के लिये एक प्रोग्राम और सिलसिला भी गढ़ कर रख दिया, जिसमें भूल-चूक और परिवर्तन की गुञ्जाइश नहीं। इस सृष्टि के विधान में भूल निकाल कर परिवर्तन की तजवीज़ पेश करे, ऐसी हिम्मत किस मनुष्य में है ?

और भगवान् द्वारा अपनी लीला को पूर्ण करने के लिये बनाये हुए इस मनुष्य का समाज ! यह समाज की माला भी उसी बिसाती ने पिरोयी है, जिसने कि इस माला के मनकों को गढ़ा है। इस माला के मनकों में जो क्रम है, वह उसी बिसाती की इच्छानुसार है। कोई बड़ा है, तो कोई छोटा ; कोई बीच में है, तो कोई अगल-बगल ! इस व्यवस्था में परिवर्तन करना भगवान की बुद्धि और न्याय की तौहीन करना है।

—यह है उपदेश, जो मनुष्य के धर्म-ग्रन्थ और धर्म-गुरु देते आये

हैं। धर्म-गुरु आरम्भ से ही समाज को चौखटों में जड़ता आया है। जब समाज ने एक चौखटे में करवट बदली, चौखटा चर्राया कि समाज के रक्षकों ने, धर्म-गुरुओं ने दूसरा चौखटा कील-काँटे लगा कर उस पर बैठा दिया।

इन चौखटों को बदलते देख एक दफ़े मनुष्य सोचने लगता है—वह चौखटा कैसा होगा, जो भगवान् ने पहले-पहल मनुष्य के इस समाज पर जड़ा होगा ?

स्वाभाविक कौतूहल

उस सर्वज्ञ और शक्तिमान की अद्भुत लीला से इस संसार के अजायब-घर में हम आज भी मनुष्य के समाज को तरह-तरह के चौखटों में जकड़ा पाते हैं। एक समाज है इँगलैण्ड के टापू में रहने वाला, दूसरा है रूस के देश में, तीसरा हमारा अपना ही और फिर देखिए अफ़्रीका के जंगलों में पत्तों से तन ढाँपकर, मनुष्य के शव को भून कर खाने वाला समाज, कुल-पति की आज्ञा से बर्छा ले नाचने-वाला समाज और फिर देखिए आस्ट्रेलिया का पुरुष के पौरुष की उपेक्षा कर 'माँ' को ही चारों ओर से घेर कर चलने वाला स्त्री-शासित समाज !

और फिर यह रोज़-रोज़ आँखों के सामने आने वाले परिवर्तन ! एक रोज़ हम क्या थे ?—कौतूहल बुरी चीज़ है ? इसी कमज़ोरी से 'आदम' ने अदन के बाग़ में फ़रिश्तों के हज़ार समझाने पर भी गेहूँ को चख ही तो लिया। फिर जो मुसीबत उसकी औलाद पर पड़ी, वह वही जानती है।

इन्सान का कौतूहल न माना। उसने इतिहास की धुंधली दूरबीन

उठा कर भूत की क्षीण पगडण्डी की ओर देखना शुरू किया और क्या देखा ?

आदिम समाज

देखा—एक दिन स्वर्ण-युग था ! मनुष्य का समाज सुख और शान्ति से दिन बसर करता था। न कोई बंधन था, न कोई क़ैद ! मनुष्य का समाज हिरनों या हाथियों के गोल की तरह घूमता-फिरता था। जहाँ पके फल देखे, तोड़ खाये ; घना वृक्ष देखा, छाया में रात और बर्सात गुज़ार दी, पर मौसम ख़तम होने पर अड़चन आती थी। उसने फल तोड़ कर दूसरे दिन के लिये रखने शुरू किये, पहिले लट्ठ या पत्थर मार जानवर का शिकार कर गुज़ारा हो जाता था। शिकार को शिकारी से मुहब्बत नहीं, किसी दिन मिला, किसी दिन न मिला। आदमी को भी अक़ल आयी। उसने जानवर को पालना शुरू किया और उसके बच्चों को खाना। बच्चे के साथ दूध भी प्याले में मिलने लगा।

वृक्ष से झड़ कर गिरे फल के बीज को उगते देख आदमी ने सोचा, क्यों न बहुत से पेड़ बो दिये जाँय, फलों की कमी न रहे। इससे आरम्भ हुआ खेती का। खेती हुई, तो ख़ास आबादी भी हुई और ख़ानाबदोशी ख़तम हुई।

जब समाज या क़बीले खेती के लायक़ ज़मीन को लेकर बसने लगे उससे पहिले ही समाज या क़बीले में, जिसके हाथ ताक़त होती थी, उसका लोहा थोड़ा-बहुत दूसरों को मनाना होता था। एक आदमी या औरत सरदार बन जाता था, परन्तु जिसने जितनी मेहनत की उसका उतना फल पाया। बहुत हुआ धमका कर दूसरे से फल तुड़वा लिया। बल था केवल अपने शरीर का या दोस्तों का।

पर जब खेती शुरू हुई, तो नये गुल खिलने लगे। क़बीले में संतानें हुईं, क़बीले की संख्या बढ़ी। खानेवाले अधिक हो गये, परन्तु ज़मीन उतनी ही रही। अब क़बीले में गुज़ारा होता न देख लोग फूट-फूट अलग बसने लगे। उन्होंने अपनी अपनी ज़मीन अलग अलग जोती। ऐसे बसने वाले लोगों के गाँव बने। पर गाँव की ज़मीन से भी जब गांव वालों का गुज़ारा चलना मुश्किल हो गया, तब एक गांव दूसरे गांव से छीना-झपटी करने लगा। लड़ाई में जो दल हारा उसके आदमी क़ैद हो गये। इन क़ैद हुए आदमियों को मुफ़्त में खिला-पिलाकर मोटा करने से फ़ायदा? इससे तो यही अच्छा था कि उन्हें भून कर दो दिन जश्न मनाया जाय!

लेकिन एक दिन मुर्ग़ी का पुलाव बना लेने की अपेक्षा रोज़ रोज़ अण्डों का नाश्ता करना बेहतर है। एक रोज़ ही क़ैदियों को खा डालने से यह अच्छा समझा गया कि उन्हें ज़िन्दा रखा जाय और उनसे कस कर मेहनत करायी जाय! ग़ुलाम पैदा हो गये।

दासता का युग

ग़ुलाम क्या हुए, समाज का रूप ही बदल गया। पहले पेट भरने के लिये दूसरे गाँव पर हमला होता था। अब ग़ुलाम पकड़ने के लिये ही होने लगा। पहले अपने हाथ से काम करके ज़रूरत पूरी होती थी, अब अगर आपके पास ग़ुलाम हैं तो मसनद पर बैठिए, ग़ुलाम आपका सब काम करेंगे। पहले आदमी में जितनी शक्ति थी उससे वह अपना पेट भर पालकर थक जाता था, अब उसके थकने का सवाल नहीं रहा। इसलिये उसे पहाड़ खोदने और दरिया पाटने की हिकमत सूझने लगी। मीलों से सुन्दर पत्थर ढो-ढोकर ईरान, रोम, मिश्र और भारत में भव्य

इमारतें खड़ी होने लगीं और ग़ुलामों के मालिक और ज़रूरी काम न होने से आकाश में बुद्धि के घोड़े दौड़ाने लगे।

तारों के चाल के हिसाब लगे। समय काटने के लिये बाँस में तार बाँध कर वीणा बनी और उस दास-स्त्री को—जो ज़मीन खोद और पत्थर तोड़ कर उतने आनन्द की सृष्टि न कर सकती थी जितनी कि वह स्वामी के सामने कमर में बल दे-देकर और ठुमक-ठुमक कर उसकी आँखों को रिझा सकती थी, हुक्म हुआ—'तुम नाचो'! उस सुन्दरी के हाव-भाव की ताल पर संगीत चला, जिसने मालिक के कानों को अमृत से भर दिया! उस संगीत में, न केवल कानों को तृप्त करने वाले, परन्तु हृदय को गुदगुदा देने वाले वर्णन, व्याख्या और संकेत पैदा हुए। ऐसे विचक्षण को जो किसी भी स्थूल पदार्थ के बिना शब्दों से ही मोहक चित्र बना दे कवि, महाकवि और पण्डित की उपाधि दी गयी।

समाज में कला और विद्या का प्रसार हुआ और फिर पेट भरे ठाली बैठ मनुष्य ने सोचा कि यह अन्धड़, वह बिजली की कड़क, नदी, समुद्र तो मेरे क़ाबू में आ सकते हैं, मुझे अगर डर किसी का है, तो उसका जो इन्हें चलाया करता है।

फिर वह सोचने लगा—इस सुन्दर संसार समाज को छोड़ कर, हाय, एक दिन मर जाना होगा! विद्वान् और चतुर पुरुषों ने कहा—डरने की बात नहीं। एक देश है जो इससे भी सुन्दर है। यदि तुम जिस तरह हमारे कहे अनुसार, दान-पूजा कर छोटे-मोटे संकटों से बचते रहे हो, अगर उसी तरह हमारा कहना मानो, तो उस देश में हम तुम्हें पहुँचा सकते हैं। हम तुम्हारे लिये उस देश के मालिक तक पहुँचने का प्रबन्ध कर देंगे। तुम हमारे लिये छोटी-मोटी ज़रूरतें पूरी करने का प्रबन्ध किये जाओ! हम तुम्हारे धर्म-गुरु हैं!

कुछ के पास धन अधिक था, कुछ के पास कुछ नहीं। भूखे मरते, जब पुराने क़ायदे के मुताबिक़ अपनी ज़रूरत पूरी करने के लिये छीना-झपटी करने लगे, तो धनवानों ने कहा—यह पाप है। ऐसा क़ायदा बनाया गया कि गड़बड़ न हो, लड़ाई-झगड़ा न हो। ग़ुलामों से कहा गया—देखो, तुम्हारे मालिक तुम्हारे पिता हैं, इनके लिये जान तक दे दो, इन्हें प्रसन्न करोगे, तो तुम्हें इस जन्म में न सही अगले जन्म में सुख मिलेगा और अगर तुमने मालिक की आज्ञा न मानी, तो यह जन्म तो तुम्हारा गया ही, अगला भी जायगा। न्याय के अवतार सुक़रात ने कहा—दास-प्रथा सभ्यता के विकास के लिये आवश्यक और न्याय है।

परिवार का विकास

युद्ध होते ही रहते थे। इनमें स्त्री के लिये मर्द के समान लड़ सकना कठिन था, लेकिन जो मर्द मारे जाते थे उनकी कमी को पूरा स्त्री ही कर सकती थी। यह समाज में ही समाज की उत्पत्ति का स्रोत थी। इसलिये निश्चय किया गया कि स्त्री को मार डालना नुक़सानदेह है, वह पाप है। इसके अलावा, जैसे अन्न प्राप्त करने के लिये ज़मीन की ज़रूरत होती है, उसी प्रकार मनुष्य की खेती उत्पन्न करने के लिये स्त्री रूपी ज़मीन की ज़रूरत होती है। इसलिये धर्मशास्त्रों में स्त्री को 'क्षेत्र' या खेती का आदर-सूचक नाम दिया गया।

जब तक व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति नहीं होती थी, स्त्रियाँ समाज की या क़बीले की साझी सम्पत्ति होती थीं। कुलों को निजी सम्पत्ति होने लगी, तो स्त्रियाँ कुलों की सम्पत्ति होने लगीं और बाद में पति-देवता की।

ढोल, गंवार (शूद्र) पशु, नारी। यह सब ताड़न के अधिकारी॥

अपनी सम्पत्ति को पीटने में कुछ बुराई नहीं। पुराने समय में रूस में जब बाप पति को लड़की सौंपता था, तो एक हंटर भी वक्त ज़रूरत के लिये साथ दे देता था।

परन्तु समाज का शरीर बढ़ने से यह चौखटा चर्राने लगा। दासों ने बग़ावतें शुरू कीं। मालिकों ने कहा—काम हो न हो, दासों को ठाले बैठे खिलाते जाओ, यह कौन न्याय है? हम ज़मीन देते हैं, यह हमारी ज़मीन को जोतें बोयें, पैदावार हमें दें, अपना भी पेट भर लें। धर्माचार्यों और क़ानून बनाने वालों ने कहा—ठीक है, मनुष्य-मनुष्य सब बराबर। किसी को दूसरे व्यक्ति को दास बना कर रखने का क्या अधिकार?

बड़े-बड़े गाँव बसे जो बड़े-बड़े आदमियों की सम्पत्ति थे। इन बड़े आदमियों को सर्दार, सामन्त, ज़मींदार या ताल्लुक़ेदार के ख़िताब दिये गये। यह राजा की छत्र-छाया में छोटे राजा हो गये। इनकी ज़मीन में बसने वालों को कहा गया—तुम स्वतंत्र प्रजा हो, परन्तु इस ज़मीन को छोड़ कर तुम कहीं जा नहीं सकते।

सामन्त युग

गुलामी के ज़माने में, जो ग़ुलाम मालिकों के लिये बढ़िया मलमलें और कीमख़ाब बुना करते थे और इतर खींचा करते थे वे स्वतंत्र हो लगे दूकानें करने। पहले इन्हें रोटी भर मिलती थी, अब यह लगे दाम लेने। गाँव-गाँव फिर यह सामान बेचते फिरते थे। कुछ समझदार लोग इनसे माल ख़रीद दूर देशों में जा क़ीमतें बढ़ा-चढ़ा कर माल बेचने लगे। इन चीज़ों को ख़रीदने के लिये बड़े आदमियों को ज़रूरत हुई ज़्यादा रुपये की। वे अपनी प्रजा को निचोड़ने लगे। जब उससे पूरा न पड़ा, तो ज़मींदारियाँ बिकने लगीं और साथ ही प्रजा भी बिकने

लगी। परन्तु दासों की तरह नहीं। जैसे ज़मीन में लगे पेड़ ज़मीन के साथ बिक जाते हैं, उसी तरह। व्यापारियों को ज़रूरत थी मज़दूरों की और राजा को सेना में सिपाहियों की। ज़मींदार अपनी प्रजा को ज़मीन छोड़ कर जाने न देते थे। समाज का चौखटा चर्राने लगा।

निश्चय किया गया कोई किसी को बाँध कर नहीं रख सकता। मनुष्य-मनुष्य सब बराबर हैं। सब को हक़ है, चाहे जहाँ काम करे और अपना पेट भरे। समानता, स्वतंत्रता और न्याय के नारे गूँजने लगे। धर्माचार्यों और न्याय के पण्डितों ने कहा, भगवान का आदेश भी तो यही है।

इधर समाज के चौखटे में यह डावाँडोल देख पानी ने भाप बन कर संसार को हिलाना शुरू कर दिया। इंजन चलने लगे। सभ्यता ने कहा—मनुष्य को दास न बनाने दोगे, हम लोहे को दास बनायेंगे। आदमी का काम मशीन करेगी। दास-प्रथा की ज़रूरत क्या?

औद्योगिक क्रान्ति

कलें और कारख़ाने खुल गये। मनुष्य शहद की मक्खियों की तरह शहरों में बसने लगे। गाँव से लोग दौड़-दौड़ शहरों को आने लगे। दिन भर काम किया और टके वसूल किये। क्या अच्छा तरीक़ा है? मालिकों ने कहा —दिन भर सौ आदमी से काम कराया, आधे मुनाफ़े में सबको टरकाया! क्या अच्छा तरीक़ा है।

मनुष्य ने सोचा, प्रकृति की सबसे बड़ी देन स्वतंत्रता ही है? और वह स्वतंत्रता उसे मिल गयी। स्वतंत्रता से उसने एक दूसरे का मुक़ाबिला शुरू कर दिया। छोटे कारख़ाने से बड़े कारख़ाने खुलने लगे। बड़े कारख़ानों के सस्ते माल के सामने छोटे कारख़ानों का माल महंगा पड़ा, वे उजड़ गये।

हाथ से काम करने वालों का तो कहना ही क्या ! वे अपना हथौड़ा, बसूला और करघा बेंच कारखानों में नौकरी करने चले। एक बहुत बड़ी श्रेणी ऐसे लोगों की पैदा हो गयी, जिसके पास सिवाय दो हाथों के कमाने का और कोई साधन नहीं रह गया। इधर एक मशीन, जो पहले तीन-चार आदमी का काम करती थी, अब तीस-चालीस का काम करने लगी। यह श्रेणी खूब बढ़ने लगी। यह श्रेणी पूर्ण रूप से स्वतंत्र है, चाहे काम करे, चाहे हाथ पर हाथ धर कर बैठी रहे, परन्तु पेट ! वह इन्सान के ऊपर बड़ा बन्धन है। वह नहीं बैठे रहने देता।

पेट भरने के लिये जब तक साधन न हों वह भर नहीं सकता। जब यह पेट भरने और तन ढाँपने के लिये तैयार सामान की क़ीमत अदा नहीं कर सकते, तो मिल-मालिक और व्यापारी इन्हें क्यों पालने लगे ! जब यह लोग ख़रीद नहीं सकते, तो मालिक को पैदावार कम करनी पड़ती है। इसका मतलब होता है, कुछ और आदमी बेकार। ज्यों-ज्यों बेकारी बढ़ेगी, त्यों-त्यों खपत कम होती जायेगी। ज्यों-ज्यों खपत घटेगी, पैदावार कम करनी पड़ेगी, बेकारी बढ़ती जायेगी और इस सब का मतलब है करोड़ों का नंगा, भूखा रहना।

पूंजीवाद का दिवालियापन

अब फिर समाज का चौखटा चर्राने लगा है। आज समाज के जीवन में व्यक्ति का महत्व कम रह गया है। जो काम होता है सम्मिलित तौर पर होता है। कील, काँटा तक बनाने के लिये सैकड़ों आदमियों को एक साथ सिर जुटाने पड़ते हैं, परन्तु लाभ जाता है एक ही आदमी की जेब में। मालिक रहता है एक ही आदमी, और वह आदमी कारख़ाने और मिल को चलाता है केवल अपने मुनाफ़े

के लिये। धन पैदा करने के सब साधन व्यक्तियों—बहुत थोड़े से आदमियों के हाथ में हैं। वे पैदावार के चक्र को चलाते हैं अपने मुनाफ़े के लिये, समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये नहीं।

एक ओर गोदामों में करोड़ों का माल भरा पड़ा है, गेहूं की क़ीमत चढ़ाने के लिये उसे जलाया और समुद्र में फेंका जाता है। दूसरी ओर लोग भूख से बिलबिलाते हैं, सर्दी गर्मी में कपड़ा न होने से मरते हैं। बाज़ारों में शोर मच रहा है—ख़रीदार नहीं, खपत नहीं। जनता में शोर मच रहा है, रोटी नहीं, कपड़ा नहीं।

माँग भी है, सामान भी है, परन्तु समाज के चौखटे का क्रम ठीक नहीं बैठता। वह चर्रा रहा है। इसके लिये अजीबोग़रीब उपाय सोचे जाते हैं। दूसरे देशों के बाज़ारों पर क़ब्ज़ा करो, उन देशों में अपनी पैदावार खपाओ। हो सकता है, कुछ समय के लिये किसी देश का गुज़ारा यों चल जाय, पर कब तक?

आख़िर कोई देश दूसरे का शिकार क्यों बने? और फिर संसार के बड़े-चढ़े सभी देश दूसरे देशों को नोचें-खसोटेंगे, तो लाश पर कुत्तों की तरह ख़ुद भी तो लड़-लड़कर मरेंगे।

आज संसार में मनुष्य-समाज की यही हालत है। मनुष्यों के आराम और सुख के बजाय मेहनत की जाती है और रुपया ख़र्च किया जाता है, मनुष्य-समाज का संहार करने के लिये। इंगलैण्ड अरबों रुपया गोला, बारूद और तोप तैयार करने में ख़र्च कर रहा है—जर्मनी उससे अधिक, तो फ्रांस उससे अधिक और अमेरिका उससे अधिक! आख़िर बताइए, इस अरबों ही अरबों रुपये से, जिसे दुनिया ने मेहनत कर पैदा किया है और जिससे मनुष्य का नाश कर देने के उपाय और साधन तैयार किये जा रहे हैं, समाज को क्या लाभ होगा?

मालिक ऐसी कोशिश कर रहे हैं कि मेहनत करने वाले जिस हालत में हैं उसी में बने रहें। मेहनत करने वाले कोशिश कर रहे हैं कि मेहनत करने के लिये तैयार रहने पर भी उन्हें मेहनत करने के अधिकार से वंचित न किया जाय और मेहनत करने पर भी वे भूखे न रहें। कशमकश, तनातनी और संघर्ष ज़ोर पकड़ रहा है। समाज का चौखटा चर्रा रहा है।

धर्म-गुरु और आचार्य कहते हैं कि भगवान और प्रकृति ने इस चौखटे को ऐसा ही बनाया है, इसे तोड़ने की कोशिश करना फ़िज़ूल है, नादानी है, परन्तु जिनकी गर्दनें दब रही हैं, उन्हें ऐसे मीठे उपदेशों को समझने लायक होश ही नहीं। वे मुसीबत से पागल हो रहे हैं।

नयी व्यवस्था की ओर

बहुत दिन से समाज का यह चौखटा चर्रा रहा है। इस चर्राहट को सुन कर एक आदमी ने कहा कि यह चौखटा बदल देना चाहिए। उसने कहा, नया चौखटा ऐसा हो कि जितने काम साझी मेहनत से किये जाँय उनका फल भी लोग साझे में बाँट लें। उत्पत्ति के साधनों को कोई अकेले पैदा नहीं करता, वे सब के साझे हों। देश को यों बाँट-कर आपस में लड़ना फ़िज़ूल है। सब देश ऐसे मिल कर रहें जैसे एक देश के अनेक शहर, गाँव मिल कर रहते हैं, उनके दिलों में भेद नहीं होना चाहिए। लोगों ने हिसाब लगा कर देखा है कि संसार में इतनी पैदावार होती है कि किसी के भूखा मरने की ज़रूरत नहीं, परन्तु वह ठीक तरह से बंटती नहीं। वजह यह कि व्यक्ति का या श्रेणी का

स्वार्थ ऐसा होने नहीं देता। सब दुःख दूर हो जाँय यदि समाज की प्रधानता हो जाय। व्यक्ति के हानि-लाभ को न देख कर समाज के ही कल्याण की बात सोची जाय। यह ज़माना है पूंजीवाद के रूप में व्यक्तिवाद का, हमें ज़रूरत है समाजवाद की।

हम कहते हैं—पूंजीवाद के चर्राते हुए चौखटे की जगह अब ज़रूरत है एक नये चौखटे की।

स्वराज्य और श्रेणी-समस्या

प्रत्यक्ष में इस समय हमारे देश का वातावरण विशेष क्षुब्ध नहीं दिखायी देता। जनता जेल जाने की तैयारी नहीं कर रही है, जो जेल में थे, जिनके निकट भविष्य में छूट जाने की कोई आशा नहीं थी, वे भी बाहर आ रहे हैं और जो अभी तक बाहर नहीं आ पाये, उनकी प्रतीक्षा में जनता उतावली हो रही है। ब्रिटिश वरिष्ट शक्ति से कोई समझौता न कर केवल लोहा लेने की ही बात न सोच, हमारे राजनीतिक कर्णधार सौदे और भाव-तोल की बात-चीत में लगे हैं। आठ प्रान्तों में कांग्रेस की नीति का बोलबाला है, हम क्रियात्मक या रचनात्मक कार्य-क्रम की ओर झुके दिखायी देते हैं।

यह सब ठीक है, परन्तु आज जैसी राजनैतिक जागृति हमारे देश में है ऐसी पहले कभी न थी और जो ठोस प्रश्न आज हमारे सामने हैं वे पहले कभी न थे। अब तक हमारे राजनैतिक संग्राम की एक पुकार (Slogan) थी—स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। जब तक हम लोग केवल भावुकता या वजहदारी से ही प्रेरित होकर स्वराज्य को कल्पना और स्वप्न का विषय समझते रहे, निहायत सहूलियत से यह पुकार हमारा काम देती चली गयी। परन्तु ज्यों ही हमारे आन्दोलन में वास्तविकता का पुट आया, हम गम्भीरता से अपनी समस्याओं को सोचने लगे, हमारे सामने अनेक टेढ़े सवाल पैदा हो गये।

स्वराज्य की कल्पनाएँ

हम सोचने लगे—स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार तो है, परन्तु वह स्वराज्य कैसा होगा ! भिन्न-भिन्न श्रेणी और विचारों के लोग स्वराज्य की कल्पना अपने-अपने स्वप्नों के अनुसार करने लगे। धनपति व्यापारियों और मिल-मालिकों ने समझा—स्वराज्य का अर्थ होगा कि विदेशी व्यापार को हम भारी अयात-कर लगा कर कुचल देंगे, हमारे ख़ज़ानों में सोना बरसने लगेगा। ज़मींदारों ने सोचा—हम पर दबाव रखने वाली ब्रिटिश शक्ति का नाश हो जायगा। अपनी अधिकृत भूमि के हम निरंकुश स्वामी हो जायँगे, सामंतवाद के गये दिनों के मीठे स्वप्न उन्हें दिखायी देने लगे। देशी नरेशों ने भी सन् ३० में ब्रिटिश शासन के प्रति बढ़ते हुए असंतोष की लहर को देखा, भारत में स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की उमंग को अनुभव किया, एक दफ़े फिर वे महा-महिम छत्रपति बनने का ख्वाब देखने लगे। पहली गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में स्वयं उन्होंने ही संघ-शासन की चर्चा चला दी। मध्यम श्रेणी के नौकरी पेशा लोग और छोटे-मोटे व्यापारी सोचने लगे स्वराज्य का अर्थ होगा कि तनख्वाहें बढ़ जायेंगी, टैक्स घट जायगे, पुलिस की डांट-फटकार कम हो जायगी। किसानों ने समझा—लगान नहीं देना पड़ेगा, बेगार बन्द हो जायगी। मज़दूरों ने समझा—मज़दूरी बढ़ जायगी बेकारी से छुटकारा मिलेगा, भर पेट खायेंगे, बेख़ौफ चलेंगे। मालूम होता था सभी का भला होगा, सभी की मन-चाही मुरादें पूरी होंगी, परन्तु ज्यों-ज्यों भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ अपने स्वप्नों को ठोस रूप देने का यत्न करने लगीं, परस्पर संघर्ष की सम्भावना पैदा होने लगी।

नेताओं की आशंका

हमारे नेता श्रेणी-संघर्ष की इन सम्भावनाओं से आशंकित हो रहे हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार श्रेणी-हित के विचार से प्रेरित होकर स्वराज्य के आन्दोलन को संचालित करने की प्रवृत्ति घातक है। इसके परिणाम-स्वरूप श्रेणी-वैमनस्य बढ़ा कर हम ब्रिटिश शक्ति के मुक़ाबिले में न केवल निर्बल हो जायँगे, बल्कि लक्ष्य-भ्रष्ट हो, स्वयं ही लड़ मरेंगे। मोटी नज़र से देखने से यह आशंका बहुत माकूल मालूम होती है और यही उचित जान पड़ता है कि पहले प्रजातान्त्रिक क्रांति द्वारा राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लें फिर इन प्रश्नों पर विचार करने का समय आयेगा। यह दलील हमें अपने उदार-दल के नेताओं (Liberal leaders) की दलील की याद दिला देती है। उनका कहना भी कितना माकूल है—हमें पहले ब्रिटिश शासन की संरक्षता में देश की आर्थिक, सांस्कृतिक उन्नति कर शासन का अनुभव प्राप्त कर लेना चाहिए। स्वराज्य के योग्य हो जाने पर ब्रिटिश शासन के सहयोग से हम स्वयं स्वतंत्रता और स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे।

यदि स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, तो किस प्रकार का स्वराज्य हम चाहते हैं या किस प्रकार की समाज या शासन-व्यवस्था में हमारा हित है, यह सोचने का अधिकार भी हमारा जन्म-सिद्ध है। जब हम स्वराज्य-प्राप्ति के लिये प्राण की बाज़ी लगा रहे हैं, तो हम उसका विश्लेषण किये बिना, उसकी वास्तविकता की छानबीन किये बिना नहीं रह सकते। आख़िर स्वराज्य है क्या? देश में देश के राज्य का अर्थ है क्या? या कहिए देश का ही अर्थ क्या है?

नक़्शे में तो 'हमारे देश' का अर्थ है—कुछ पर्वत-श्रेणियाँ, कुछ

नदियाँ, भूमि का एक बहुत बड़ा टुकड़ा। स्वराज्य का अर्थ निश्चय ही इन जड़ पदार्थों की स्वतंत्रता नहीं है। स्वराज्य का अर्थ है—इस भू-मात्र में रहने वाले लोगों की स्वतंत्रता और उनकी समृद्धि। इतना ध्यान में रख लेने पर हम अपने लक्ष्य स्वराज्य की मीमांसा और परिभाषा किये बिना नहीं रह सकते। यदि स्वराज्य का अर्थ हम देश की जनता की स्वतंत्रता और हित समझ लें, तो हम इस प्रश्न की अवहेलना नहीं कर सकते कि देश की जनता का या देश की अधिक से अधिक जनता का लाभ हो सकता है।

अनिवार्य श्रेणी-संघर्ष

वास्तविकता की ओर से आँखें बन्द कर अपने आपको धोखा देने से क्या लाभ ! हम यह बात भूल नहीं सकते कि हमारे देश की जनता अन्य देशों की जनता की भाँति, भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभक्त है और समाज में इन श्रेणियों के परस्पर सम्बन्ध ऐसे हैं कि उनके हितों में संघर्ष अनिवार्य है। एक श्रेणी की समृद्धि या स्वतंत्रता प्राप्त करने का अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि दूसरी श्रेणी, जो अब तक प्रथम श्रेणी की पराधीनता या दीनता से लाभ उठाती रही है, अपने हितों को ख़तरे में समझे। यह बात अप्रिय ज़रूर है, परन्तु सत्य है। प्रत्येक मनुष्य संसार के अन्य प्राणियों में अपनी ही आत्मा अनुभव कर, उनके सुख से सुखी हो, यह रोचक सिद्धान्त त्याग और आध्यात्मिक व्याख्यानों के लिये बहुत अच्छा विषय है, परन्तु कोई समाज इस पर कभी अमल नहीं कर सका। कुछ व्यक्तियों की बात जाने दीजिए ; व्यक्ति सद्भावना से प्रेरित होकर स्वार्थ का त्याग महत्तर स्वार्थ अर्थात् समाज और जगत् के कल्याण के लिये कर सकता है, परन्तु एक सम्पूर्ण श्रेणी या

समाज अपने हितों या स्वार्थ का बलिदान नहीं कर सकता, करेगा भी तो किस उद्देश्य से ?

जब हमारा समाज श्रेणियों का समूह है, क़दम-क़दम पर जब श्रेणियों की समस्या हमारे सन्मुख अनिवार्य रूप से आयेगी ही, तो क्यों न हम परिस्थिति को उसी दृष्टि से देखें ! यदि जिस स्वराज्य को हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह हमारे देश की जनता या अधिकांश श्रेणियों के हितों के विरुद्ध जा रहा है, तो हम जनता को सदा के लिये उल्लू बना कर उसे न प्राप्त कर सकेंगे, न क़ायम ही रख सकेंगे। यदि वह देश की बहु-संख्यक जनता के हितों के स्वार्थ के अनुकूल है, तो उसे स्पष्ट स्वीकार करने में हर्ज ही क्या ! बल्कि उसे स्पष्ट तौर पर अंगीकार कर उसका एलान करके ही हम अपने स्वतंत्रता के संग्राम को सबल और सफल बना सकेंगे। जिन श्रेणियों के हित बहुसंख्यक जनता के हितों के प्रति-कूल हैं उन्हें भी हम मूर्ख नहीं बना सकते। वे अपने लिये आने वाले ख़तरे को ख़ूब समझती हैं। उनका सहयोग राष्ट्रीय आन्दोलन को कभी मिल नहीं सकता और हम उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये बहुसंख्यक जनता को, प्रायः सम्पूर्ण देश को, उनके स्वार्थ और हित की बात सोचने और कहने से वंचित नहीं कर सकते।

शोषितों का स्वराज्य

जिन श्रेणियों के हित परस्पर विरुद्ध हैं उनमें संघर्ष होता ही है। परोपकार की भावना और आध्यात्मिकता की लीपापोती कर हम उन्हें सदा बहला कर नहीं रख सकते। यदि देश के मुख्य अंग किसानों और मज़दूरों को स्वराज्य में पेट भरने का अधिकार या अपने श्रम से उपार्जित कमायी को प्राप्त करने का अधिकार भी नहीं मिलता, तो उनके लिये

स्वराज्य का अर्थ ही क्या होगा ! उन्होंने जो कुछ त्याग या कष्ट अपने स्वप्नों की प्राप्ति के लिये सहन किया है उसका क्या मुश्राविज़ा उन्हें मिलेगा और भविष्य में उनसे जो और भी अधिक त्याग की आशा की जा रही है, उसी के लिये वे क्यों तैयार होंगे !

हमारा अपने स्वतंत्रता संग्राम का अनुभव हमें बताता है कि कुछ श्रेणियाँ सदा हमारी महत्वाकांक्षाओं के विरुद्ध रही हैं, उन्होंने सदा हमारे शोषकों का ही साथ दिया। वे देश की जनता के शोषण में हमारे शोषकों के हिस्सेदार हैं, उनके लिये ऐसा करना ही स्वाभाविक है। उनके संतोष के लिये हम यदि दलित और शोषित श्रेणियों की माँग को दबा देने का यत्न करेंगे, तो इसका अर्थ होगा कि हमें स्वराज्य के स्वप्न को ही भूल जाना होगा या फिर ब्रिटिश शोषण की जगह उनका शोषण स्वीकार करना होगा।

श्रेणी-समस्या—किसान और मजदूर

एक ओर तो हम देखते हैं—संसार का मनुष्य-समाज श्रेणियों का समूह है। मनुष्य-जाति का इतिहास, भिन्न-भिन्न श्रेणियों के विकास, उनकी पारस्परिक उतरा-चढ़ी और संघर्ष का इतिहास है। दूसरी ओर हम देखते हैं—हमारे देश में इस प्रश्न को दृष्टि से ओझल करने का और इसे दबा देने का प्रयत्न किया जा रहा है। मानों हमारे देश का सामाजिक और आर्थिक संगठन शेष संसार से पृथक् और भिन्न हो। इसमें सन्देह नहीं कि अभी हाल तक हमारे देश में श्रेणियों के भेद का प्रश्न उत्कट रूप में उपस्थित नहीं था। हमारी समझ में इसके तीन कारण थे। प्रथम तो अपेक्षाकृत उद्योग-धंधों की उन्नति का अभाव और दूसरा सामाजिक और राजनीतिक जागृति का अभाव, तीसरा और प्रधान कारण जो अब भी मौजूद है—है विदेशी शासन की मौजूदगी। विदेशी शासन की मौजूदगी में अपनी प्रत्येक सार्वजनिक न्यूनता और हीनता का कारण हम स्वभावतः ही इस शासन को समझते रहे। दलित श्रेणियों का ध्यान मुख्य शोषक की ओर ही रहा, उन्होंने हमारे अपने ही देश में मौजूद उन श्रेणियों की ओर कभी ध्यान न दिया, जो विदेशी शासन के संरक्षण में शोषण का एक बड़ा भाग हड़प कर, विदेशी शासन के वृक्ष की जड़ों का काम करती रही हैं।

जब हमने देश की सम्पूर्ण शक्ति से विदेशी शासन-व्यवस्था के

वृक्ष को उखाड़ फेंकने का यत्न किया, तो हमें मालूम पड़ा कि इस वृक्ष की जड़ें हमारे समाज में कितनी गहरी पहुँची हुई हैं और यह जड़ें हमारे समाज की भूमि में, पृथक्-पृथक् श्रेणियों के रूप में मौजूद हैं। यदि हम वर्तमान शासन-व्यवस्था के बाहरी रूप को काट-छाँट भी दें यानी गोरे शासकों को भगा भी दें, तो भी इस शासन-व्यवस्था की जड़ों से जो शाखा-प्रशाखा निकलेगी, वह भिन्न नहीं होगी। देश की जनता का शोषण यह वृक्ष इसी प्रकार करता रहेगा।

शोषण क्यों ?

यदि हम राह चलते किसी भी देश-वासी से पूछें कि देश की दुरवस्था का क्या कारण है ? तुरन्त उत्तर मिलेगा—विदेशी शासन। परन्तु विदेशी शासन के कारण हमारी दुरवस्था क्यों है ? इसे सर्व-साधारण ठीक-ठीक नहीं समझते। ब्रिटिश भारत की अपेक्षा भी देशी रियासतों में जनता की दुरवस्था क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर वे नहीं दे सकते। आम ग्रामीण—या शासन-व्यवस्था और राजनीति से अनभिज्ञ जनता का ख़याल है कि अंग्रेज़ लोग भारतवर्ष से टैक्स के रूप में धन संचय कर जहाज़ों पर लाद विदेश ले जाते हैं, देश से सब सोना चाँदी खिंच गया है और देश में नोटों के रूप में काग़ज़ ही काग़ज़ रह गया है। इससे परे उनकी दृष्टि नहीं जाती। सत्याग्रह और असहयोग के ज़माने में स्वयं कांग्रेस के प्रचारक इस प्रकार की बे सर-पैर की बातें फैलाते फिरते थे। उनका स्वागत भी ख़ूब होता था और एक हद तक जनता में असंतोष फैलाने के लिये यह बातें कारगर भी थीं।

यह बतंगड़ उस समय चल जाता था, लेकिन आज नहीं चल सकेगा। आठ प्रान्तों में आज कांग्रेसी सरकारें चल रही हैं। टैक्स

वहाँ आज भी लिया जा रहा है, बल्कि और टैक्स बढ़ाने की तदबीरें सोची जा रही हैं। आज हम लोगों के लिये यह कहना कि कांग्रेस-मंत्री टैक्स इकट्ठा कर विलायत भेज देते हैं, सम्भव नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि विदेशी शासन-व्यवस्था में टैक्स के इकट्ठा करने और व्यय करने की जो नीति थी, वह सदा देश की प्रगति के मार्ग में बाधक रही और स्वायत्त-शासन में जो कुछ गुंजाइश है उसके अनुसार कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल जहाँ तक सम्भव है देश की दलित श्रेणियों के साथ सहानुभूति प्रकट करने का यत्न कर सकता है। कांग्रेस द्वारा अख्तियार की गयी नीति में सदाशय का आभास ज़रूर है। उससे कुछ सहायता भी दलित श्रेणियों को ज़रूर मिलेगी, परन्तु उनकी दुरवस्था का अन्त इससे न हो सकेगा। ज़रूरत है—समाज और देश की शासन-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की।

दुरवस्था किनकी ?

हमारे देश की दुरवस्था के कौन कौन कारण हैं ? यह जानने के लिये पहले यह देखना ज़रूरी है कि दरअसल हमारे देश में दुरवस्था है किसकी ? हमारे देशी नरेशों की दुरवस्था नहीं, हमारे ताल्लुक़ेदारों और ज़मींदारों की दुरवस्था नहीं। हो सकता है पहले की अपेक्षा वे किसी क़दर कम स्वच्छन्द हों, उनकी निरंकुशता में कुछ कमी आ गयी हो, राजसी ठाट और प्रमोद में रुपया पानी की तरह बहाने की सहूलियत में फ़र्क़ पड़ गया हो, कुछ क़र्ज़ सिर पर हो गया हो, परन्तु उनकी दुरवस्था नहीं। मिल-मालिकों की दुरवस्था नहीं, कोठी-पतियों और व्यापारियों की दुरवस्था नहीं। वे भूखे नहीं, नंगे नहीं, रहने की जगह से लाचार नहीं। उनके प्रासाद आकाश को

फोड़ते चले जा रहे हैं, उनकी मिलों की चिमनियों का धुआँ, उनकी क्षमता की ध्वजाएं आकाश में फहरा रहा है। उनके मोटरों और वाहनों में कमी नहीं आयी। मोटरों के प्रति वर्ष नये-नये आने वाले माडलों की खपत कम नहीं हुई, उल्टे बढ़ती ही जाती है। ऊँची तनख्वाह पाने वाले सरकारी अफ़सरों या पूँजीपतियों की दलाली और कारिन्दगी करने वालों की दुरवस्था नहीं। ऊँचे पेशेवर लोग भी दलित नहीं हो रहे हैं। इन्हें विदेशी शासन के प्रति यही शिकायत है कि शोषण का बड़ा भाग वह शासन ले जाता है और इन्हें अपनी महत्वाकांक्षा पूर्ण करने का अवसर नहीं मिलता।

दुरवस्था है उन लोगों की जो अपने शरीर का पसीना बहा कर उपज और पैदावार मुहय्या करते हैं। जो समाज के विराट रथ में घोड़ों और पहियों का काम करते हैं, वे पिस रहे हैं। उन्हीं के पेट खाली हैं, उन्हीं के शरीर नंगे हैं और जो समाज के रथ पर बैठकर सवारी कर रहे हैं या रथ की बागडोर हाथ में सँभाले हैं, चाहे चिंता के बोझ से उनके माथे पर त्योरियाँ पड़ रही हों, जान के लाले उन्हें नहीं पड़ रहे हैं।

किसानों की दुरवस्था ?

वास्तव में श्रम करने वाली श्रेणियों या समाज के अंगों को लीजिए—सब से पहले आप के सामने ज़मीन से सिर मारने वाला किसान आता है। श्रेणी रूप से या सामूहिक रूप से इसकी क्या अवस्था है, यह किससे छिपी है ? यह सब कुछ उत्पन्न करके भी वह कितना दीन-हीन और पराश्रित है ? समाज की शिकारी श्रेणी के हाथ में वह बिना पंख का पक्षी है। वह कितनी विडम्बना का पात्र है ? इसका अन्दाज़ा आप इसी बात से लगा सकते हैं कि उसका दूसरा समानार्थक नाम है—

गँवार ! किसान अपने किसानपने का चाहे जितना अभिमान कर ले, कोई दूसरा व्यक्ति न तो किसान बनने को तैयार होगा, न कहलाने को। फिर भी हमारे देश की सम्पूर्ण आबादी के तेईस करोड़ मनुष्यों में से जो भूमि से सम्बन्ध रखते हैं, इक्कीस करोड़ अस्सी लाख किसान ही हैं। शेष एक करोड़ बीस लाख ही ऐसे हैं जो अपने आप को दीन-हीन किसान न कह कर मालिक कहलाने का अभिमान कर सकते हैं। एक हद तक इन लोगों का यह अभिमान ठीक ही है, क्योंकि देश की भूमि से प्राप्त होने वाली आमदनी में से एक अरब अस्सी करोड़ रुपया इन्हीं के पेट में चला जाता है, जिसके लिये इन्हें तिनका तक नहीं तोड़ना पड़ता।

इक्कीस करोड़ अस्सी लाख का काम है मेहनत से पैदा करना और एक करोड़ बीस लाख का काम है, मौज से व्यय करना ! मोटे हिसाब से कह सकते हैं कि प्रति एक भाग्यवान् के सुख और आराम की व्यवस्था के लिये अट्ठारह अभागे मेहनत कर मरते हैं। कौन इनकार कर सकता है कि इन दो कोटियों के प्राणियों की दो भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं ! जब तक मौजूदा सामाजिक और आर्थिक शासन-व्यवस्था रहेगी, इस बड़ी श्रेणी का जीवन छोटी आराम-तलब श्रेणी के अधीन रहेगा और उन्हें सुख-चैन, स्वतंत्रता और पेट भर खाना कभी नसीब नहीं हो सकेगा। जब भी यह बड़ी परन्तु पराधीन श्रेणी यह इच्छा करेगी कि उनकी मेहनत का फल उनके ही हाथों में रहे छोटी श्रेणी, जिसके हाथ में विदेशी शासन-व्यवस्था की दया और सहायता से शक्ति है इस श्रेणी का विरोध करेगी। अब यदि देश की स्वतंत्रता की लड़ाई का उद्देश्य देश की बहुसंख्यक जनता की स्वतंत्रता है तो कौन श्रेणी स्वतंत्रता के लिये लड़ेगी ! वह श्रेणी जो देश की बहुसंख्यक जनता की स्वतंत्रता-प्राप्ति में अपना विनाश देखती है किस और सहयोग

देगी ? यह समझ लेना कठिन है यदि आप इस शोषक शक्ति का सहयोग प्राप्त करना ही चाहते हैं, तो आपको देश की स्वतंत्रता का अर्थ बदल देना होगा। इस अवस्था में देश की स्वतंत्रता का अर्थ होगा—शोषक श्रेणी के अधिकारों की रक्षा और वृद्धि और बहु-संख्यक जनता या दलित श्रेणी की सदा के लिये पराधीनता और दुरवस्था।

विदेशी शासन-व्यवस्था के इस देश में क़ायम रहने का उद्देश्य क्या है ? यदि वह उद्देश्य इस देश की प्राकृतिक सुविधाओं और जनता का शोषण है, तो वह इसे इस देश की अल्पसंख्यक शोषक श्रेणियों के सहयोग से ही पूर्ण कर सकता है। विदेशी शासन-व्यवस्था और ये श्रेणियाँ इस उद्देश्य में सहयोगी और साझीदार हैं और दोनों का कल्याण वर्तमान व्यवस्था के क़ायम रहने में ही है।

हम जो कुछ कह रहे हैं, स्वप्न में नहीं बक रहे हैं। ऊपर हम किसान-श्रेणी का ज़िक्र कर रहे थे। इस श्रेणी के प्रति ब्रिटिश शासक-शक्ति का क्या रुख़ है इसे आप एक ही उदाहरण से समझ जायेंगे। किसानों और खेती की शोचनीय अवस्था देख सरकार ने एक जाँच कमिटी (Royal Agricultural Commission) नियत की थी। पहिली हिदायत इस कमिटी को यह कर दी गयी कि भूमि के बटवारे या मिल्कियत के सम्बन्ध में ज़बान हिलाने की ज़रूरत नहीं। खेती का आधार है ज़मीन। जब उसी के सम्बन्ध में कोई सुधार या परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो अवस्था में परिवर्तन कैसे हो सकता है ? मतलब—सुधार हो या बिगाड़, सरकार अपनी सहायक शोषक श्रेणी की नींव हिला कर अपनी शासन-व्यवस्था की इमारत नहीं गिरा देना चाहती। क्या इस बात से इन्कार करने की कोई गुंजाइश शेष है कि सरकार का दृष्टि-कोण शोषक श्रेणी के हित का दृष्टि-कोण है ?

श्रेणी-समस्या—पूँजीपति और मजदूर

इस बात से सहमत होकर भी कि देश में स्वराज्य का अर्थ यहाँ की भूखों-मरती करोड़ों की जन-संख्या का स्वराज्य और स्वतंत्रता है और इस जनता को स्वराज्य की आवश्यकता के प्रति सचेत करने के लिये, स्वराज्य की लड़ाई में उनका सहयोग प्राप्त करने के लिये, उनसे सम्बन्ध रखने वाली आर्थिक समस्याओं को हमें सामने लाना चाहिए। हमारे कुछ नेता उनके श्रेणी रूप से सजग होने और संगठित होने के विरुद्ध हैं। जब हम एक आर्थिक समस्या को उठाते हैं तो उस समस्या से सम्बन्ध रखने वाला समाज सचेत हुए बिना नहीं रह सकता। वे लोग अपने हितों में एक सम्बन्ध अनुभव किये बिना, अपने समान कष्टों के निवारण के लिये सम्मिलित प्रयत्न किये बिना, अपने आपको एक शृङ्खला में बंधा हुआ अनुभव किये बिना नहीं रह सकते। उपरोक्त बातों को प्रगति का स्वाभाविक मार्ग मान कर, हम श्रेणी-चेतना के विकास और संगठन को किस प्रकार अनुचित बता सकते हैं!

हमारे राजनीतिक नेताओं का दूसरा दल, महात्मा जी के नेतृत्व में, श्रेणी-चेतना और श्रेणी-संगठन का विरोध इसलिये करता है कि उसे इसमें हिंसा और वैमनस्य की बू आती है। वे लोग समाज को पुराने पारिवारिक आदर्श पर ही संगठित और परिचालित देखने के मधुर स्वप्न में पड़े हुए हैं। मालिक पिता और मज़दूर पुत्र, यही उनका पुराना गीत है।

पैदावार किस लिये ?

यदि हम समस्या के मूल में जाने का यत्न करें, तो पहला सवाल यही उठता है कि उत्पत्ति या उद्योग-धन्धे का उद्देश्य क्या है, या क्या होना चाहिए ? पूँजीपति की दृष्टि से उद्योग-धन्धा चलाने का उद्देश्य है—अधिक से अधिक माल मज़दूरों द्वारा पैदा करवा कर उससे लाभ का अंश प्राप्त करना। मज़दूर के सामने उद्देश्य का सवाल ही नहीं ; क्योंकि उद्योग-धन्धे को ज़ारी करने में उसका कुछ भी हाथ या अधिकार नहीं। वह असहाय अवस्था में अपने श्रम की शक्ति को बेचने जाता है, ताकि पेट भर अन्न प्राप्त कर सके। समाज की दृष्टि में उत्पत्ति का उद्देश्य है—समाज या देश की आवश्यकताओं को पूर्ण करना।

उलझन तब पैदा होती है जब पूँजीपति मज़दूर की मेहनत को इतना अधिक हड़प जाना चाहता है कि मज़दूर का जीवन ही असम्भव हो उठता है। सामाजिक व्यवस्था या परिस्थिति उसके पक्ष में है। समाज में बेकारों की संख्या इतनी अधिक है कि पूँजीपति मज़दूरी के भाव को जितना चाहे गिरा दे सकता है। यदि मज़दूर सम्मिलित रूप से उसका मुक़ाबिला न करें, तो मज़दूरी कितनी कम हो सकती है, इसका अनुमान हम केवल कठिन कल्पना से ही कर सकते हैं।

परन्तु यह क्या न्याय है या उचित है ? न्याय और औचित्य का निर्णय सदा किसी न किसी दृष्टि-कोण से ही होता है। यदि पूँजीपति के दृष्टिकोण से देखा जाय,तो वह न्याय-पूर्ण और उचित है। पूँजीपति का दावा है कि अपनी पूँजी से वह कल-कारख़ाना लगा कर धन्धा चलाता है, कुछ लाभ के लिये। मज़दूर को ज़रूरत है, वह आता है। पूँजीपति

जो कुछ मज़दूरी देना चाहता है, यदि मज़दूर को मंज़ूर नहीं, तो वह काम न करे, कोई दूसरा आ जायगा।

एक समय था जब इस प्रकार का तर्क ही न्याय की कसौटी था, लेकिन सामाजिक विकास के साथ हमारा दृष्टि-कोण वैयक्तिक न रह कर सामाजिक होता जा रहा है और हम पूँजीपति और मज़दूर दोनों को समाज का अंग मान और तीसरे अंग ग्राहक को उसमें सम्मिलित कर न्याय की विवेचना करने लगे हैं।

न्याय क्या है ?

हम इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि यदि मज़दूरों के शोषण की कोई सीमा न रहेगी, तो मज़दूर लोग जो कि समाज का एक बहुत बड़ा अंश है, दिन-दिन शारीरिक और मानसिक अवस्था में गिरते जायँगे और इससे सम्पूर्ण समाज या देश निर्बल होता जायगा। पूँजी-पति इस आपत्ति के बावजूद अपने शोषण के अधिकार का समर्थन करने को तैयार है। उसका कहना है कि उद्योग-धन्धों के विकास में ही देश या समाज का कल्याण है, उद्योग-धन्धों का विकास वह उसी अवस्था में कर सकता है, जब उसे अपने कारोबार में से लाभ का पर्याप्त अंश मिले। देश के कल्याण के नाम पर वह अपने शोषण के अधिकार की सफ़ाई देना चाहता है।

यदि हम इस प्रश्न को मज़दूर की दृष्टि से देखें, तो एक दूसरा पहलू हमारे सामने आता है। उत्पत्ति के प्राकृतिक साधनों को तो कोई नहीं बनाता और पूँजी क्या है?—एक समय मेहनत द्वारा जो उत्पत्ति की जाती है और उपयोग में सम्पूर्ण अंश को न लाकर जो कुछ बचा लिया जाता है, वही कालान्तर में पूँजी बन जाता है। इस पूँजी को

उत्पन्न करता है मज़दूर और इस पूँजी द्वारा प्राप्त मशीनों पर काम करता है मज़दूर, परन्तु जो उत्पत्ति होती है उस पर अधिकार होता है पूँजीपति का। यह कौन सा न्याय है?

उत्पत्ति के कार्य-क्रम में पूँजीपति का क्या स्थान है? भाग्य से या कौशल से उसने पूँजी के नियंत्रक या प्रबन्ध-कर्त्ता का स्थान ले लिया है। उसने अपने आधीन सम्पूर्ण पूँजी को स्वयं नहीं पैदा किया है। पूँजी की उत्पत्ति में उसका अपना हिस्सा उतना ही है, जितना कि किसी दूसरे मज़दूर, क्लर्क या मैनेजर का, परन्तु व्यवस्था ऐसी है कि प्रत्येक मज़दूर की कमायी का बहुत बड़ा अंश उसी के हाथ चला जाता है। उसकी शक्ति समाज में रोज़-रोज़ बढ़ती चली जाती है। मज़दूर केवल उतना पाता है जितना कि उसके शरीर में प्राण क़ायम रखने के लिये नितान्त आवश्यक है। वह रोज़-रोज़ अपेक्षाकृत असहाय होता जाता है। मज़दूर का कहना यह है कि उसकी मेहनत का फल उसे पूरा क्यों न मिले?

सामाजिक दृष्टि से हम यह समझते हैं कि उद्योग-धन्धों का उद्देश्य है—समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना। पूँजीपति जिस सिद्धान्त पर अपने उद्योग-धन्धों को चलाते हैं, उसमें उद्देश्य समाज की आवश्यकता को पूरा करना न रह कर केवल लाभ उठाना रहता है। यदि उद्योग-धन्धों का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना ही हो, तो अधिक पैदावार (Over production) फालतू उत्पत्ति या माँग की कमी का सवाल कभी पैदा हो ही नहीं सकता। हम संसार में सब ओर आर्थिक संकट ही देख पाते हैं। आर्थिक संकट है क्या? आर्थिक संकट है केवल खपत से ज़्यादा माल का पैदा हो जाना।

आर्थिक संकट क्यों ?

एक ओर तो हम अपनी आँखों से सभी तरफ़ कमी ही कमी देखते हैं, लोगों को नंगे और भूखे फिरते देखते हैं। दूसरी ओर व्यापारियों को चिल्लाते सुनते हैं कि खपत नहीं, माँग नहीं। यह विरोधाभास क्यों ? इस विरोधाभास की जड़ है पैदावार के उद्देश्य में। 'खपत या माँग नहीं' का अर्थ यह नहीं कि जनता को इन चीज़ों की ज़रूरत नहीं। इसका अर्थ है कि जिन लोगों को ज़रूरत है उनके पास मूल्य देने की शक्ति नहीं। मूल्य देने की शक्ति मज़दूरों या क़िसानों के पास न होने का मतलब है कि जितनी मेहनत वे समाज का धन, पूंजीपति की आधीनता में बढ़ाने में करते हैं, उसका मुआविज़ा उन्हें उतना नहीं मिलता कि वे उसे ख़रीद कर व्यय कर सकें। परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति फ़ालतू पड़ी रहती है, पूंजीपति अपने मिल या उद्योग-धन्धे को बन्द कर देता है। मज़दूर मज़दूरी पा नहीं सकता, बिक्री और भी कम हो जाती है या बन्द हो जाती है। समाज में कारबार या व्यापार की मशीन बिलकुल थम जाती है।

इसी जगह आकर हम देखते हैं कि समाज के पारिवारिक आदर्श पर संगठित होने की कल्पना मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में असम्भव है। पूंजीपति उत्पादकों का उद्देश्य अपने कल-कारख़ानों से सामान तैयार करने में जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना नहीं, उनका उद्देश्य है—केवल अपने सामान को कम मज़दूरी से तैयार करा कर अच्छे दामों बेच सकना, ताकि उनकी जेब भारी हो सके, लेकिन ख़रीदेगा कौन ? ग्राहक कौन है ? जो व्यक्ति मिल में मज़दूर होकर

काम करता है, वही मिल से बाहर जाकर उस माल को ख़रीदने की भी ज़रूरत महसूस करता है यानी दूसरे सामान को तैयार करने वाला मज़दूर या किसान ही ग्राहक के रूप में आता है। पूँजीपति की नीति है—मज़दूरी कम देकर माल को तैयार करने की चेष्टा करना और मज़दूरी कम देने के लिये वह यह सफ़ाई देता है कि देश की ग़रीब जनता को सस्ता माल पहुँचाने के लिये उसे सस्ती मज़दूरी की आवश्यकता है। यह कम मज़दूरी देने की प्रवृत्ति किसी एक व्यवसाय के ही मिल-मालिकों में नहीं, बल्कि सभी व्यवसायों के मिल-मालिक ऐसा करने की चेष्टा करते हैं। परिणाम यह होता है कि मज़दूर लोग, जो कि ग्राहक भी हैं अपेक्षाकृत ग़रीब होकर मिलों द्वारा तैयार-शुदा माल को ख़रीदने में असमर्थ हो जाते हैं। नतीजा होता है—आर्थिक संकट!

श्रेणी-संघर्ष कैसे रुके?

संसार की आर्थिक व्यवस्था में सदा संकट आते रहने और उलझनें पैदा होते रहने का कारण है—उत्पादन के काम में भाग लेने वाली दोनों श्रेणियों अर्थात् पूँजीपति या शासक वर्ग और मज़दूर या ग्राहक शासित वर्ग के हितों में विरोध होना। समाज के कल्याण के लिये उत्पत्ति होनी चाहिए फिर उत्पत्ति में भाग लेने वाली इन दोनों श्रेणियों में यह तनातनी क्यों? कारण यही है कि शासक-वर्ग सम्पूर्ण समाज के कल्याण की चिन्ता न करके अपने सीमित क्षेत्र को ही लाभ पहुँचाना चाहता है। इसलिये उद्योग-धन्धों द्वारा उत्पत्ति का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता और मज़दूर या ग्राहक बेबस होकर पेट की रोटी के लिये लड़ने को आमादा हो जाते हैं। मरता क्या न करता?

हमारे देश में भी उद्योग-धन्धों के पूँजीवादी ढंग पर विकसित होने से स्थिति संसार के अन्य देशों से भिन्न नहीं। हम भी श्रेणी-संघर्ष से बच नहीं सकते। श्रेणी-संघर्ष से बचने का यदि कोई उपाय हमारे लिये है, तो वह श्रेणीवाद का विनाश और समाजवाद की स्थापना ही है।

मज़हब का मुलम्मा

आज हमारा देश और समाज बीस वर्ष पहले की तरह निराश और उद्यम-हीन नहीं है। समाज और देश के शरीर में जीवन की स्फूर्ति और स्पन्दन का प्रमाण मिल रहा है। हम पहले की भाँति निष्क्रिय नहीं। बात-बात में हम स्वराज्य की चर्चा करते हैं, स्वराज्य की प्राप्ति के उपायों पर विचार करते हैं। हमारे मार्ग में जो अड़चनें और रुकावटें हैं उनकी विवेचना करते हैं। अनेक प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न विचार रखते हुए भी देश और समाज के सभी अंग इस बात से सहमत हैं कि मुख्य रुकावट हमारे उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में, हमारे देश और समाज में राष्ट्रीयता या क़ौमियत के भाव का अभाव है। इस लम्बे-चौड़े देश में रहने वाले हम पैंतीस करोड़ हिन्दुस्तानी, एक प्राण और जान होकर, एक उद्देश्य के लिये अपनी शक्ति को संचित रूप से नहीं लगा दे सकते।

हम ऐसा क्यों नहीं कर सकते इस प्रश्न को भी हम सोचते हैं। हमारी वृहत् संख्या अनगिनत छोटे-छोटे समूहों में विभक्त है। अनेक संस्कृतियाँ और अनेक सम्प्रदाय हमारे देश को छोटे-छोटे ताल-तलैयों में बाँटे हुए हैं, इसलिये हम सामूहिक रूप से एक बड़ी नदी की तरह प्रबल वेग से बह कर अपना मार्ग नहीं बना पाते। हम छिन्न-भिन्न हैं, कटे-फटे और बँटे-छँटे हैं, यह तो ठीक, परन्तु हमें कौन चीज़ बाँटे हुए

है ! सो ज़ुबान से हम इस बात को चिल्ला कर स्वीकार करते हैं कि हमारे देश में मौजूद साम्प्रदायिक, मज़हबी और सांस्कृतिक (Cultural) भेद हमारे समाज में भेड़ों की तरह खड़े होकर हमें एक होने से रोके हुए हैं, परन्तु इसके साथ ही उतने ही बल से, शायद उससे भी अधिक ज़ोर से हम हमारे समाज को छिन्न-भिन्न किये रहने वाली इन भेड़ों को मज़बूत बनाये रखने की पुकार को बुलंद किये रहते हैं।

हमारे साम्प्रदायिक नेता चिल्लाते हैं—साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता ! हमारे राजनीतिक नेता उत्तर देते हैं, ज़रूर परन्तु सहनशीलता के साथ (with tolerance) ! हमारे गण्यमान्य मुकुट-मणि नेता धार्मिक प्रवृति को राजनीतिक योग्यता का मुख्य अंग मानते हैं। कुछ वर्ष की बात है, लाहौर में एक बहुत योग्य नेता ने अपने व्याख्यान में कहा था कि भारत की मुक्ति का साधन है—राष्ट्रीयता के भाव का उदय और सच्ची राष्ट्रीयता या क़ौमियत तभी पैदा हो सकती है, जब देश का प्रत्येक हिन्दू सच्चा और पक्का हिन्दू, प्रत्येक मुसलमान पक्का मुसलमान और ईसाई सच्चा ईसाई होगा। सच्चे या पक्के हिन्दू, मुसलमान या ईसाई होने की यदि एक ही कसौटी हम निश्चित करना चाहें, तो इसका तात्पर्य होगा—साम्प्रदायिक कट्टरता।

परन्तु साम्प्रदायिक कट्टरता की हमारे नेता निंदा करते हैं। देश की जनता अवाक् होकर अपने इन मार्ग-द्रष्टाओं की ओर देखती है और विमूढ़ होकर रह जाती है। अपने सम्प्रदाय में दृढ़ सत्य-विश्वास और कट्टरता की सीमाओं को पृथक् करने वाली वह सूक्ष्म रेखा कहाँ है, इसे जनता तो समझ ही नहीं सकती, परन्तु हमारे विचक्षण नेता इसे समझा सकेंगे या नहीं, हम नहीं कह सकते। ऐसी कोई रेखा है भी या नहीं इसमें भी हमें संदेह है।

बहुत सीधा सवाल है, एक सच्चा निष्ठावान् हिंदू अपने पड़ोसी मुसलमान से हज़ार सहानुभूति प्रकट करे, परन्तु जब मंदिर में ज़ोर से घण्टा बजाने का सवाल आयेगा, तब निष्पक्ष कैसे रह सकता है ? वह यदि नियम-धर्म से रहना चाहता है, तो अस्पृश्यता की उपेक्षा कैसे कर सकता है ? एक निष्ठावान् मुसलमान कुरान की आज्ञा का उल्लंघन कर रसूल में विश्वास न करने वाले काफ़िर के प्रति कैसे सहानुभूति प्रकट कर सकता है ! सम्प्रदाय या धर्म में विश्वास रखते हुए भी कट्टर न होने का अर्थ है, शायद सम्प्रदाय या मज़हब के उपदेशों में केवल विश्वास रखना, परन्तु उन उपदेशों पर आचरण करने की चेष्टा न करना ।

साम्प्रदायिकता के इस सहिष्णु रूप का मुख्य स्रोत पहले था— साबरमती आश्रम और अब है वर्धागंज । वहाँ सच्चे खुदाई ख़िदमतगार और नारायण के सच्चे सेवक एक साथ बैठ कर भोजन करते हैं । एक अल्लाह की तशबीह फेरते हैं, तो दूसरे राम नाम की सुमरनी चलाते हैं ! भगवान् या अल्लाह प्रसन्न होकर वहाँ अपने आशीर्वाद की वृष्टि करते हैं । वहाँ सुख-चैन का राज्य है । वर्धागंज से आवाज़ आती है—हमारी ओर देखो, भगवान् के सच्चे सेवक और उपासक हम हैं । क्या तुम हमारा अनुसरण नहीं कर सकते ? धर्म-भीरु जनता हत-बुद्धि होकर उस ओर देखती है । उसकी समझ में कुछ नहीं आता । सदियों से चले आये धर्म-संस्कारों के विरुद्ध यह धर्म का अवतार क्या कह रहा है ? पुरातन सम्प्रदाय में दृढ़ विश्वास रखो, उसके लिये अपना सिर दे दो, परन्तु उस पर आचरण न करो !

सच्चा मुसलमान छटपटाता है । कुरान में हुक्म है—वहदत

का डंका बजा देने का। उसके बुजुर्गों ने अपने और काफ़िरों के खून से संसार की भूमि को उर्वरा कर, मज़हब की फ़सल को बढ़ाने का जो उदाहरण पेश किया है, क्या आज उसी को रोक देने का हुक्म दिया जा रहा है ? वर्धा का नया फ़रिश्ता कहता है—बेशक सब ठीक है, तुम अपने-अपने धार्मिक आदेश को पूरा करो, परंतु शान्त और सहिष्णु बने रह कर। भगवान एक है। खुदा, राम और सभी नाम उसी एक शक्ति के हैं।

इस मधुर उपदेश की प्रशंसा सर्वसाधारण जनता करती है, परंतु उसे अपने जीवन में चरितार्थ करने में असमर्थ है। साधारण बुद्धि का एक साधारण व्यक्ति पूछता है यदि 'वह' जिसे भगवान, अल्लाह या ईसू के पिता के नाम से पुकारा जाता है एक है, तो उसकी प्राप्ति के यह सब मार्ग—सम्प्रदाय, भिन्न-भिन्न क्यों हैं ? वर्धा का संदेश कहता है तुम्हारी समझ में फ़रक़ है, तुम ठीक समझ नहीं सकते। गीता, कुरान, बाइबिल सभी का उपदेश एक है।

हो सकता है यह ठीक हो। मैंने निष्ठावान् और विद्वान् हिन्दुओं को यह कहते सुना है कि वेद और शास्त्रों पर नुक्ताचीनी मत करो, वह सर्वसाधारण मनुष्य की पहुँच के बाहर हैं। एक आलिम मौलवी ने मेरी मूर्ख तर्क-वृत्ति से चिढ़ कर कहा था—लाइलाहइल्लिला, इन शब्दों का अर्थ समझने की यदि तुम्हें दरअसल इच्छा हो, तो मैं अपनी आयु भर इसकी व्याख्या कर सकता हूँ और यक़ीन रक्खो कि ख़त्म न कर पाऊँगा। डर कर मुझे उनकी उदारता से लाभ उठाने का साहस न हुआ, क्योंकि इस संक्षिप्त से जीवन में बहुत से काम हैं। बाइबिल को यदि कोई पूर्ण रूप से समझ लेने का दावा करे, तो वह अपनी धृष्टता से केवल ईसाइयों के धर्मभाव को मर्मान्तक चोट दो

पहुँचाएगा। जब साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का यह हाल है या कहिए भगवान् की ओर मुँह कर चलने का यत्न करने पर हम ठुकरा ही जाते हैं या उनकी उँगली पकड़ कर चलने की चेष्टा करने पर हमारे हाथ में या तो कुछ आता ही नहीं या पुरमज़ाक अदृश्य शक्ति हम सबको अलग-अलग उँगली पकड़ा कर बहका देती है, तो क्यों न हम किसी दूसरी वस्तु को संकेत मान कर चलने का यत्न करें।

यदि हम राष्ट्रीयता चाहते हैं, यदि विभाजक मेड़ों को तोड़ कर सब जल को मिला कर एक दरिया बहा देना चाहते हैं, तो क्या इन साम्प्रदायिक मेड़ों के आदि मूल साम्प्रदायिक संस्कारों और उस अदृश्य शक्ति के सहारे पर चल कर ही उसे पा सकेंगे? गले के जिस बोझ ने हमें अब तक ग़ारत किया है उसी पर बार बार मुलम्मा चढ़ा कर ही क्या हम तैर कर पार निकल जाने की कोशिश करते रहेंगे। हम सहिष्णुता का कितना ही मुलम्मा अपने गले के इस चक्की के पाट पर चढ़ाएँ, वह रहेगा सम्प्रदाय या मज़हब ही और वह हमें खींचेगा नीचे की ओर, रसातल को ही।

थोड़े से साहस की ज़रूरत है। आँखें खुलने पर हमने कितनी ही मिथ्या धारणाओं और वहमों को मिथ्या धारणा या वहम कह कर छोड़ दिया। क्या इस अन्तिम मिथ्या धारणा से हमारा कभी छुटकारा न होगा? जब तक यह मज़हब का मुलम्मा, चाहे वह कट्टरता का गहरा मुलम्मा हो, चाहे सहिष्णुता का हलका मुलम्मा हो, हम पर चढ़ा रहेगा, हम आदमी के रूप में न पहचाने जायँगे, न दूसरों को पहचान सकेंगे। न हमारी राष्ट्रीयता यहाँ पनप सकेगी, न हम स्वराज्य के उस मक़सद की ओर एक भी क़दम बढ़ा सकेंगे, जिसका हम इतना ढोल पीट रहे हैं।

सत्याग्रह का ठेका

एक दफ़े हिम्मत कर पण्डित जवाहर लाल ने लिख डाला था कि महात्मा गांधी अनेक अवसरों पर ऐसी बात कह जाते हैं, जो हमें केवल उनके महात्मापन के कारण ही सहन कर लेनी पड़ती है। पण्डित जी ने अपने आत्म-चरित में इस बात को दूसरे शब्दों में फिर दोहराया है। इस पुस्तक में आप लिखते हैं कि महात्मा जी के जीवन में अनेक विरोधाभास हैं और शायद सभी महापुरुषों में ऐसे विरोधाभास होते हैं। पण्डित जी के इस साहस के लिये हम उनके विशेष कृतज्ञ हैं, क्योंकि कोई दूसरा व्यक्ति इतनी गुस्ताख़ी करता, तो उसके सार्वजनिक जीवन का अन्त हो गया होता।

हम इससे कुछ अधिक कहने की इजाज़त चाहते हैं। महात्मा जी के जीवन में न केवल कुछ विरोधाभास हैं, परन्तु उनके पत्र 'हरिजन' को पढ़ लेने के बाद हमें अपनी सीमित और मानवी बुद्धि से तो ऐसा जान पड़ता है कि आख़िर में आकर महात्मा जी के जीवन का सम्पूर्ण सिद्धान्त (Philosophy) और कार्यक्रम एक विरोधाभास ही है।

महात्मा जी के जीवन की संसार को सबसे बड़ी देन उनका सत्याग्रह (Peaceful resistance) है। धर्म-प्राण होने के कारण और ईश्वरीय न्याय में दृढ़ विश्वास होने के कारण महात्मा जी के पास राज्य-शासन का विरोध करने के लिये, भगवान के प्रतिनिधि राजा के

ख़िलाफ़ बग़ावत करने के लिये, कोई युक्ति नहीं हो सकती थी, परन्तु परिस्थितियों ने उन्हें मजबूर किया। उन्होंने बग़ावत की, क़ानून को तोड़ा और उसके लिये अपना नैतिक अधिकार यह पेश किया कि वे आततायी के विरुद्ध भी हाथ नहीं उठाते, वे केवल अत्याचार सहन करते हैं। वे सत्याग्रही हैं और सत्याग्रही अन्याय नहीं कर सकता। श्रद्धालु समाज उनके इस आविष्कार से मुग्ध और अवाक् रह गया।

सत्याग्रह की निंदा

उस समय महात्मा जी को स्वप्न में भी यह ख़याल नहीं आ सकता था कि यह सत्याग्रह एक दिन उनके ही ऊपर वार कर बैठेगा और उन्हें इसकी निन्दा करनी पड़ जायगी। महात्मा जी ने हड़ताल के मैदान में मज़दूरों द्वारा धरना दिये जाने की निन्दा की है। इसे उन्होंने निरी हिंसा (Pure Violence) बताया है। यदि किसी जगह मज़दूरों ने धरना देते समय धैर्य खोकर या आवेश में आकर अशान्ति दिखायी हो, तो उसकी निन्दा करने का अधिकार किसी भी सत्याग्रही को होगा, हालाँकि इस प्रकार की अव्यवस्था स्वयं महात्मा जी द्वारा परिचालित सत्याग्रह में इतने अधिक स्थानों पर, इतनी अधिक दफ़े हुई कि उसका वर्णन करने जाना हाथ के कंगन को आरसी में देखने का यत्न करना होगा। इस प्रकार की अव्यवस्था या अनुशासन की न्यूनता का सम्बन्ध सिद्धान्त से नहीं, स्थल-विशेष से हो सकता है, परन्तु महात्मा जी ने मज़दूरों के सत्याग्रह में निन्दा अनुशासन की नहीं की। उन्होंने निन्दा की है—मज़दूरों द्वारा सत्याग्रह के सिद्धान्त रूप से ग्रहण करने की।

मज़दूर और धरना

मज़दूरों की अवस्था क्या है ? वे यह अनुभव करते हैं कि उनकी मेहनत का पूरा मुआविज़ा उन्हें नहीं मिलता। पूँजीवादी राज्य-शक्ति की सहायता से या समाज के संगठन से पूँजीपति का मज़दूरों के ऊपर नियंत्रण है और मज़दूरों द्वारा किये गये श्रम की पैदावार सब पूँजीपति के हाथ में चली जाती है। उन्हें पेट भरने मात्र के लिये भी पर्याप्त भाग उसमें से नहीं मिलता या जिन मिलों को उन्होंने मेहनत कर करोड़ों रुपये कमा कर दिये हैं वे ही मिलें अधिक पूँजी एकत्र कर ऐसी मशीनें मँगा लेती हैं, जिनसे पहले की अपेक्षा बहुत कम मज़दूरों से काम हो सकता है। यह मिलें अब मज़दूरों को कान पकड़ निकाल देना चाहती हैं। मज़दूर पेट पर हाथ रख मिलों से असहयोग कर मिलों के सामने सत्याग्रह कर अपने अधिकारों को माँगते हैं ; जीवित रहने की गुंजाइश चाहते हैं। मिल-मालिक बे-घरबारों की ग़रीबी का फ़ायदा उठा दूसरे मज़दूरों को उनकी जगह ले आना चाहते हैं। मज़दूर मिलों के सामने धरना देकर उन लोगों से अनुनय-विनय कर उनके और उनके बाल-बच्चों के पेट की रोटी सदा के लिये न छीन लेने के लिये अनुरोध करते हैं। जब उनकी अवज्ञा की जाती है, वे भूमि पर लेट जाते हैं। वे कहते जाना हो तो जाओ ; पर हमारे शरीर को अपने जूतों से कुचल कर जाओ।

महात्मा जी का दृष्टि-कोण

महात्मा जी कहते हैं यह अनुचित है। मज़दूरों को ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं। जब महात्मा जी इसकी निन्दा करते हैं, तो

ज़रूर ही यह अनुचित है। उनका दावा है—"As the author of peaceful picketing, I cannot recall a single instance, in which I encourage such picketing" अर्थात् सत्याग्रह के प्रतिपादक की हैसियत से मुझे एक भी ऐसे अवसर की याद नहीं जब मैंने इस प्रकार के धरने को प्रोत्साहन दिया हो। धरसना के नमक सत्याग्रह की याद दिलाने पर आप फ़रमाते हैं, धरसना में नमक के कारख़ानों पर क़ब्ज़ा किया गया और उस पर अपना आधिपत्य रखने की भी चेष्टा की गयी, परन्तु वह तो सरकार के विरुद्ध था।

महात्मा जी के भक्त कहते हैं, महात्मा जी के शब्दों का अर्थ समझ लेना खिलवाड़ नहीं। इसलिये हम दावा नहीं करेंगे कि हम उनके उपरोक्त कथन का अर्थ समझ गये हैं, परन्तु कोशिश किये बिना भी नहीं रह सकते। हम अगर इस कथन का कुछ भी अर्थ समझे हैं, तो यह समझे हैं कि सत्याग्रह केवल सरकार के ही विरुद्ध किया जा सकता है ? हम पूछते हैं सरकार नामधारी शक्ति के अतिरिक्त यदि कोई अन्य शक्ति असहाय और दलितों पर अत्याचार करे, तो दलित और असहाय जनता का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए ? क्या वे चुपचाप कायरता से अत्याचार को सहते चले जाँय ? क्या वे लाठी लेकर उस अत्याचार का मुक़ाबिला करने लगें ?

अनेक अवसरों पर जिन लोगों ने आत्माभिमान छोड़ कायरता के कारण लांछना, अपमान और पशुवत व्यवहार सहन किया है, उनकी महात्मा जी ने घोर निन्दा की है, उन्होंने कहा है—कायरतावश जो लोग अहिंसा का अनुकरण करते हैं उन लोगों की अपेक्षा वे लोग कहीं अच्छे हैं, जो हिंसक होते हुए कम से कम वीर तो हैं।

अहिंसा के नाम पर

मज़दूरों के लाठी लेकर अपने अधिकारों की माँग पेश करने से महात्मा जी उन्हें क्या-क्या नाम धरते यह हमें न पूछने की आवश्यकता है और न बताने की। महात्मा जी इन मज़दूरों के लाठी लेकर चलने पर क्या कहते और क्या नहीं कहते, इस बात को जाने दीजिए। हमारे लिये इतना ही पर्याप्त है कि स्वयं कांग्रेसी सरकारें, जिन्हें मज़दूरों की माँगों का औचित्य स्वीकार करना पड़ा, इन मज़दूरों को लाठी उठा लेने पर, बलवाई कह कर सैनिक और पुलिस-शक्ति से इनका दमन कर देतीं। मिल-मालिक उससे बहुत खुश होते और महात्मा जी का दावा भी क़ायम रह जाता कि अहिंसा और सत्याग्रह को उनके अतिरिक्त व्यवहार में दूसरा कोई व्यक्ति नहीं ला सकता।

अभी पिछले हिन्दू-मुस्लिम दंगों के अवसर पर जब कांग्रेसी सरकारों ने बलवाइयों का दमन पुलिस और फ़ौज की शक्ति से किया था, महात्मा जी को यह बहुत बुरा मालूम हुआ। उस समय उन्होंने कहा था कि हम लोगों को अहिंसा का व्यवहार केवल राजनीतिक क्षेत्र में या सरकार के विरुद्ध आन्दोलन में ही नहीं करना है, अपितु अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में करना चाहिए। आज जब मज़दूर अहिंसा और सत्याग्रह से अपने अधिकारों के लिये मिल-मालिकों का सामना करते हैं, तो महात्मा जी को यह भी उचित नहीं जान पड़ता। शराब के ऊपर धरना देने के लिये और विदेशी कपड़े की बिक्री को रोकने के लिये क्या धरना देने के वे सभी उपाय काम में नहीं लाये गये, जिनका उपयोग इस समय मज़दूरों ने किया है। उस समय वह कार्य अहिंसा था, परन्तु आज वह विशुद्ध हिंसा हो गया। क्या हम

पूछ सकते हैं, गुनू देसाई ने जिस सत्याग्रह में जान दी थी, वह हिंसा-पूर्ण था या अहिंसा-पूर्ण !

दुरंगी नीति

आपने अनेक विरोधाभास देखे होंगे, पर ऐसा विरोधाभास नहीं देखा होगा। हम इसी वर्ष के दंगों की बात कह रहे थे। दंगों के अवसर पर कांग्रेसी सरकारों द्वारा पुलिस और फ़ौज का व्यवहार करने पर महात्मा जी ने कहा था कि पुलिस और फ़ौज की सहायता से दंगे का शमन कर कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों ने अपनी योग्यता का परिचय नहीं दिया, वे अपने आदर्श से गिर गये हैं, परन्तु आज महात्मा जी मिल-मालिकों के पुलिस की सहायता लेने के अधिकार का समर्थन कर रहे हैं और साथ ही कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों का यह कर्त्तव्य समझते हैं कि वे पुलिस द्वारा मिल-मालिकों की सहायता करें। साम्प्रदायिक दंगा करने वालों और गुण्डों का पुलिस द्वारा शमन करना गांधी जी को सहन नहीं, उन्हें वे प्रेम से समझाना चाहते हैं, परन्तु मज़दूरों को पुलिस द्वारा दबाना उनकी दृष्टि में उचित है। इस तर्क या नीति का क्या आधार है, हम नहीं समझ सके।

नीति के आदर्श संसार भर के लिये एक होने चाहिए, यह सभी दार्शनिकों का विचार है, परन्तु महात्मा जी मज़दूरों और मिल-मालिकों के लिये सत्याग्रह और अहिंसा की नीति का व्यवहार उचित नहीं समझते। सत्याग्रह और अहिंसा का ठेका वे अपने ही पास रखना चाहते हैं। यदि हम महात्मा जी के रवैये को निरा महापुरुषों का विरोधाभास ही कह कर नहीं छोड़ देना चाहते, तो हमें इसकी तह में जाना होगा। यह देखना होगा उनके इस बेमेल नैतिक सिद्धान्त की

बुन्याद कहाँ है। समय-समय पर वे परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का समर्थन जान-बूझ कर करते हैं या अज्ञात संस्कारों के कारण ?

मनुष्य नितान्त निस्स्वार्थ होकर भी, त्यागी होकर भी दरअसल स्वार्थ की उस प्रेरणा-संयुक्ति नहीं पा सकता, जो उसके संस्कारों की बुन्याद में पीढ़ी दर पीढ़ी से बसती चली आयी है। महात्मा जी का न्याय और निस्स्वार्थ भाव प्रशंसा के योग्य होने पर भी वह श्रेणी के चक्कर से नहीं निकल सकता। जिस श्रेणी के धर्म-विश्वास, जिस श्रेणी की दार्शनिकता की बुन्याद पर महात्मा जी के संस्कार पनपे हैं। जब सत्याग्रह का सिद्धान्त उसी पर वार करने लगेगा, तो वह निश्चय ही महात्मा जी की दृष्टि में अन्याय होगा।

सत्याग्रह को पूँजीवादी श्रेणी या माध्यवित्त श्रेणी पर यों वार करते देख महात्मा जी का पैतरा बदल जाना इस बात को स्पष्ट कर देता है कि महात्मा जी का लक्ष्य या उद्देश्य स्वयं सत्याग्रह या अहिंसा ही नहीं। वह है उस श्रेणी के स्वार्थों की रक्षा, जिसके वे अंग हैं। महात्मा जी पूँजीपतियों और ज़मींदारों से आशा रखते हैं कि वे कृपा और करुणा से एक टुकड़ा रंक और मज़दूर की ओर फेंक देंगे, परन्तु इस बात को सहन नहीं कर सकते कि रंक या मज़दूर ही मालिक के स्थान पर जा बैठे। ऐसा होने से महात्मा जी के सिद्धान्त जिस श्रेणी की दार्शनिकता पर क़ायम हैं, वह श्रेणी ही ग़ायब हो जायगी।

अहिंसा की समस्या

महात्मा गांधी ने मार्च के अन्तिम और अप्रैल के प्रथम सप्ताह के "हरिजन" में कांग्रेस-सदस्यों को आत्म-परीक्षण द्वारा इस बात का निर्णय करने का परामर्श दिया है कि उनकी अहिंसा सशक्त की अहिंसा है, या निर्बल की।

इस सिलसिले में वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल जो साम्प्रदायिक दंगों का अन्त नहीं कर सके और उन्हें इनके शमन के लिये पुलिस और फ़ौज की आवश्यकता हुई इसका अर्थ है कि कांग्रेस अभी तक ब्रिटिश शासन को पद-च्युत करने योग्य नहीं हुई। महात्मा जी फ़र्माते हैं—यदि कांग्रेस के प्रतिनिधि गुण्डों का शमन अहिंसा द्वारा नहीं कर सकते, यदि व्यवस्थापिक सभाओं में कांग्रेस मंत्री-गण यह कहते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर आततायियों को हम फाँसी के तख्ते पर भेजेंगे या गोली से उड़ा देंगे, तो यह कांग्रेस की निर्बलता का द्योतक है, यह उनकी अहिंसा के निर्बल की अहिंसा होने का प्रमाण है और इसके लिये महात्मा जी लज्जित हैं।

यदि सभी कांग्रेस के सदस्य और सहायक, क्योंकि कांग्रेस की शक्ति केवल रजिस्टर में दर्ज सदस्यों पर ही निर्भर नहीं है, महात्मा जी के इस निर्णय से सहमत हो जाँय, तो इसका अर्थ होगा कि कांग्रेस जो कुछ भी शासन का उत्तरदायित्व अपने हाथ में ले पायी है इसके लिये

वह असमर्थ है, अयोग्य है। उसे अभी अपने आपको योग्य बनाने के लिये अहिंसा-व्रत साधन करना चाहिए।

महात्मा जी अहिंसा का प्रतिपादन नीति के तौर पर नहीं, अपितु धर्म-विश्वास के रूप में करते हैं, यह बात दोहराने की ज़रूरत नहीं। महात्मा जी की दृष्टि में देश की स्वाधीनता से अधिक मूल्य है—देश के पूर्ण अहिंसा वृत में दीक्षित होने का। उन्होंने सन् १६२० में अपने एक लेख 'तलवार का सिद्धान्त' (Theory of Sword) में स्पष्ट कह दिया है कि यदि भारत बल-प्रयोग से, तलवार की शक्ति से स्वराज्य प्राप्त करेगा, तो वह उनके हृदय के अभिमान की वस्तु नहीं रहेगा। उनका विश्वास है, संसार में अहिंसा का प्रचार करना भारत का मुख्य कर्त्तव्य और उद्देश्य है।

हम यह नहीं कहते कि भारत तलवार द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करेगा। यह सवाल इस समय हमारे सामने उठता ही नहीं। कांग्रेस ने सामूहिक शक्ति और अहिंसा की नीति द्वारा जो सफलता प्राप्त की है वह हमारे सामने है, पर अहिंसा को धार्मिक विश्वास मानने और देश के राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति का साधन मान कर चलने में बहुत फ़र्क़ आ जाता है।

धार्मिक सिद्धान्त का आधार है—आत्मा द्वारा परम आत्मा से प्राप्त आदेश। राजनीति मनुष्य-समाज के पार्थिव लाभ लक्ष्य कर चलती है, आध्यात्मिकता को लेकर नहीं। महात्मा जी की दृष्टि में यह अवश्य ही शोक, परिताप और लज्जा का विषय होगा, परन्तु वास्तविकता से इनकार करने से काम नहीं चल सकता। संसार की राजनीति में प्रमुख भाग लेने वाले जो देश शस्त्र-शक्ति पर भरोसा करते हैं, जिन्होंने युद्धों में संख्यातीत नर-संहार किया है उन्होंने यह

आध्यात्मिक शक्ति की प्रेरणा से नहीं किया। उन्होंने परिस्थितियों से प्रेरित होकर अपनी शक्ति का प्रयोग किया है। हम भी अपने राजनीतिक संघर्ष में परिस्थितियों के अनुसार अपनी शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं। हमारी शक्ति इस संघर्ष में जनता की सामूहिक शक्ति है। इस शक्ति का प्रयोग संगठित रूप में हम और किस तरह कर सकते हैं!

जिस बात को हम न्याय-पूर्ण समझते हैं, अपना अधिकार समझते हैं, उसके लिये हम सामूहिक रूप से संघर्ष कर रहे हैं। इस संघर्ष को हम अधिक संयत, सबल और सुन्दर जिस रूप में कर सकते हैं उसी रूप में करेंगे। यदि हम तलवार नहीं उठाते, तो इस में निर्बलता नहीं। हम तलवार और तोप से डरते नहीं। उसका सामना अपनी न्याय और औचित्य की धारणा से करते हैं, यही हमारा बल है।

हम कह चुके हैं कि अहिंसा हमारी नीति है, हमने उसे राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ग्रहण किया है, आत्मा की शांति के लिये नहीं। हमारा उद्देश्य सामाजिक और राजनीतिक विकास है, आध्यात्मिक शांति नहीं। हम नहीं जानते, आत्मा है या नहीं। आत्मा की परिभाषा और व्याख्या इतने प्रकार की है कि हम उलझ जाते हैं। हमें उसके अस्तित्व में शक हो जाता है, परन्तु समाज तो प्रत्यक्ष सत्य है, उसके अस्तित्व में शक की गुंजाइश नहीं।

हमारा मतलब यह नहीं कि राजनीतिक उद्देश्य अर्थात् स्वतंत्रता की प्राप्ति के अतिरिक्त हम हिंसा का उपयोग करेंगे। हिंसा मनुष्य की बर्बरता का चिन्ह है। ज्यों-ज्यों मनुष्य-समाज विकसित होता है, हम हिंसा से ऊपर उठते जाते हैं, उससे घृणा करने लगते हैं। ज्यों-ज्यों हमारा आचार-बल, सांस्कृतिक बल और नैतिक बल बढ़ता

जाता है, त्यों-त्यों हम हिंसा से दूर हटते जाते हैं। हम यह नहीं कहते कि साम्प्रदायिक दंगों का शमन हमें अहिंसात्मक सत्याग्रही स्वयं-सेवकों द्वारा नहीं करना चाहिए। ज़रूर करना चाहिए। हम ऐसा करेंगे और नैतिकता और संस्कृति की एक और सोढ़ी चढ़ जाँयगे, परन्तु कांग्रेस के मन्त्रि-मण्डल यदि ऐसे स्वयं-सेवकों के अभाव में पुलिस और फ़ौज का प्रयोग करते हैं, तो यह उनकी असफलता का द्योतक है, यह मानने को हम कदापि तैयार नहीं।

देश में साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, इसलिये हम राजनीतिक स्वतंत्रता, या शासन-शक्ति सम्हालने के योग्य नहीं, यह अजब दलील है। यही क्यों न कहा जाय कि जिस देश में चोरी और जुआ होता है, वह देश राजनीतिक स्वतंत्रता के लायक़ नहीं ! यही क्यों न कहा जाय कि हम डाकुओं और बच्चों को चुरा ले जाने वालों (Kidnappers) का शमन यदि पुलिस द्वारा करते हैं, तो हम राजनीतिक शक्ति सम्हालने लायक़ नहीं।

हमारे साम्प्रदायिक दंगा करने वाले उपरोक्त अपराधी श्रेणी के लोगों से भिन्न नहीं हैं। जब तक समाज की भिन्न श्रेणियों की सांस्कृतिक उन्नति नहीं हो जाती, यह सामाजिक रोग दिखायी पड़ते ही रहेंगे। माहात्मा जी के विचार या आदर्श के अनुसार पूर्ण अहिंसा यदि कहीं हो सकती है, तो पूर्णतया विकसित वर्गहीन (Classless) या अराजक (Anarchist) समाज में। विदेशी शासन को इसकी क्या परवाह ! इन रोगों का उपाय करने के लिये कांग्रेस या देश की जाग्रत समूह-शक्ति के हाथ में शासन-शक्ति का होना आवश्यक है। देश में स्वतंत्र शासन-शक्ति का होना सामाजिक रोगों की एक मात्र औषध है। जनता के हाथ में शक्ति आ जाने पर या स्वराज्य

हो जाने पर ही देश में पूर्ण अहिंसा क़ायम हो सकेगी, परन्तु महात्मा जी अहिंसा को स्वराज्य की शर्त समझते हैं। क्या महात्मा जो यह चाहते हैं कि सब रोगों के हट जाने के बाद ही औषध की खोज की जाय ?

हमें शासन के उद्देश्य को ध्यान में रख कर शासन और हिंसा में भेद करना होगा।

जेल-सुधार

शरीर पर फोड़ा हो जाने पर दर्द और कष्ट तो होता ही है, परन्तु वह घिनौना भी बहुत मालूम पड़ता है। उस ओर देखने को मन नहीं चाहता, परन्तु यदि उसकी उपेक्षा की जाय, तो वह शरीर को बेचैन कर देगा और ताज्जुब नहीं, जो उसे ले ही डूबे। 'जेल' समाज के शरीर में फोड़े हैं। समाज की शासक और नियन्त्रक शक्तियाँ समाज के मवाद को खींच-खींच कर यहाँ इकट्ठा कर देती हैं। इसके बाद आवश्यक हो जाता है कि उस मवाद को साफ़ कर शरीर के रक्ताणुओं (Red corpuscles) को बचाया जाय और अगर मवाद इतनी मात्रा में बढ़ गया है—इतना विषाक्त हो गया है कि सुधर नहीं सकता तो अंग के कुछ भाग को या पूर्ण अंग को ही शेष शरीर की रक्षा के लिये काट दिया जाय।

पिछले ज़माने की ज़र्राही यही थी और अशिक्षित देशों में आज दिन तक बिगड़े फोड़े का यही उपचार है कि अङ्ग का भाग काट दिया जाय। परन्तु चिकित्सा-शास्त्र के विकास के साथ सभ्य समाज में अङ्गों को यथा-सम्भव बचा ही लिया जाता है। यही बात जेलों के सम्बन्ध में लागू होती है। पहले अपराधी पकड़ा जाता था और उसको तात्कालिक दण्ड देकर क़िस्सा पाक कर दिया जाता था। चोरी की है, हाथ काट दो। गाली दी है, ज़बान काट दो। क़त्ल किया है, सर काट

दो। अगर जेलख़ाने ही भेजना है, तो सूखे कुएं में डाल दो। रस्सी में बांध कर रोटी का टुकड़ा और पानी का लोटा नीचे पहुँचा दिया जायगा।

आज ज़माना है कि क़ैदियों के साथ भी मनुष्यता का सलूक करने की दुहाई दी जाती है। उन्हें मारिए-पीटिए नहीं, गाली न दीजिए। खाने को इंसान का सा खाना दीजिए। पहनने को इंसानों का सा कपड़ा दीजिए। भले आदमी की तरह उनसे बात कीजिए। ऐसे भी भले आदमी हैं, जिन्हें यह सब बातें बेहूदी मज़ाक मालूम होती हैं। कुछ दूर की कौड़ी लाने वाले समझते हैं कि कांग्रेस सरकार का भी एक दिन आया है। उन्हें भी अपना चमड़े का सिका चला लेने दीजिए, क्या हर्ज है। आख़िर कांग्रेसी मिनिस्टरों को एक दिन फिर जेल जाना है। इसलिये यदि वे समय रहते अपने लिये मुनासिब प्रबन्ध करना चाहें तो इसमें क्या अचरज! जेल के अफ़सर अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि इस लाड़ प्यार से क़ैदी और भी बिगड़ेंगे। अपराधियों की संख्या और भी बढ़ेगी। जेल सज़ा देने की जगह है, न कि मेहमानदारी की!

किसका ख़याल ठीक है, यह समय के दृष्टि-कोण पर निर्भर है। पहले समय का दृष्टि-कोण था, दुष्ट अपराधी आततायी है। वह समाज को हानि पहुँचाता है। उससे बदला लेना चाहिए। आज का ख़याल इससे भिन्न है। आज दिन के समाज-शास्त्री कहते हैं कि अपराधी समाज को हानि ज़रूर पहुँचाता है, परन्तु इस हानि का बदला ले लेने से कुछ लाभ नहीं। वह अपराधी को निर्बल मस्तिष्क या विकृत-प्रकृति का मनुष्य समझते हैं। जैसे शारीरिक व्याधियों का इलाज किया जाता है इसी प्रकार मस्तिष्क की व्याधियों का इलाज कर वे अपराधी को

समाज के दुश्मन के बजाय समाज का उपयोगी अंग बना लेना चाहते हैं।

पिछले समय जेलख़ानों का जो उद्देश्य रहा हो, आज के सभ्य समाज में जेलख़ानों का उद्देश्य अपराधी को सुधारना है। उसके मस्तिष्क और प्रवृत्तियों को सुमार्ग पर लाना है। इसी विचार से प्रायः यूरोप में जेलख़ानों को 'सुधार-गृह' (House of correction) का नाम दिया जाता है। अपराधी को सुधारने के लिये कौन उपाय सफल हो सकते हैं, यह निश्चय करना और उन उपायों को काम में लाना ही इन संस्थाओं का उद्देश्य है। अत्यन्त कठोर परिस्थिति में रह कर अपराधी के मस्तिष्क में जो कुछ मनुष्यता और सहृदयता शेष रहती है वह भी जड़ हो जाती है। वह समाज का और भी अधिक शत्रु बन जाता है। उसकी उपमा उस हिंसक पशु से दी जा सकती है, जो मनुष्य रूप में विचर कर मनुष्य-समाज को निगल जाना चाहता है।

हमारे देश के जेलख़ाने अभी पुराने दर्रे पर ही चल रहे हैं। हम भी सुधार की ओर क़दम बढ़ाने का दावा करते हैं। हम कहते हैं कि बर्बरता की उस अवस्था में, जिसमें अपराधी से बदला लेना ही न्याय का उद्देश्य था, जब आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत तोड़ने का नियम था, जब ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाता था उस अवस्था को हम पार कर चुके हैं। परन्तु हम अब भी क़ातिलों को फाँसी पर झुलाते हैं, डाकुओं और दूसरे अपराधियों को आजन्म क़ैद या लम्बी-लम्बी क़ैद की सज़ाएँ देते हैं। शायद यह सब कुछ सुधार के आदर्श को पूरा करने का उपाय है !

जिसे आपने फांसी के द्वार के उस पार पहुँचा दिया, वह तो केवल

परिजनों के दिल को दाग़ देकर ख़तम हो गया। समाज को उसकी चिन्ता या परवाह करने की ज़रूरत नहीं; परन्तु जो व्यक्ति उम्र भर के लिये—बीस, पंद्रह, दस या पांच-सात साल के लिये जेलख़ाने भेज दिया गया, वह समाज के गले में समस्या के फांस की तरह अटक जाता है। वह समाज का शत्रु है, परन्तु समाज उसे आयु भर, या चिर-काल तक अपने ख़र्चे पर पालता-पोसता रहता है। यदि अपराधी या आततायी के जीवन में कभी सुधर जाने की कोई आशा नहीं, तो उसे समाज के गले का बोझ बना देना कौन न्याय है? इस में कौन बुद्धिमत्ता और कौन दूरंदेशी है? जिन लोगों से समाज को सदा हानि ही पहुँचने की आशा हो, ऐसे लोगों को तो हैज़ा, प्लेग आदि के कीटाणुओं की तरह नष्ट कर देने में ही कल्याण है। आततायी या अपराधी को समाज के सिर का बोझ बना कर रखने के लिये यदि कोई युक्ति हो सकती है, तो वह यही कि उसे हम विशेष कारणों के कारण मस्तिष्क का रोगी समझते हैं और इस बात की आशा रखते हैं कि उचित उपायों से उसका सुधार हो सकता है।

यदि सुधार ही सचमुच हमारा उद्देश्य हो, तो उसके अनुरूप परिस्थितियाँ भी पैदा करनी होंगी और विपरीत परिस्थितियों का निवारण भी करना होगा। पहिला सवाल यही उठता है कि जो आदमी किन्हीं कारणों से असाधारण और विकृत अवस्था में है उसे सुधारने के लिये दुष्ट प्रवृत्ति की संगति से बचाया जाय। इसलिये आप उसे जेल में ले आते हैं। जेल में हमें उस व्यक्ति को सुधारने के लिये केवल नितान्त आवश्यक समय तक ही रखना चाहिए। पल्टन में जो लोग भर्ती होते हैं, उन्हें लगभग छः मास तक शिक्षा दी जाती है। इतने समय में भरती हुआ किसान या मज़दूर सुघड़ सिपाही में बदल

जाता है। उसका स्वभाव, प्रकृति और प्रवृत्ति सब बदल जाती हैं। एक अपराधी की मनोवृत्ति को बदलने के लिये इससे दुगना, तिगना, न सही चौगुना समय पर्याप्त होना चाहिए। आयु भर के लिये एक आदमी को पिंजरे में बन्द कर देने में क्या औचित्य है? या हम इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें—इन आततायियों को मुद्दतों भले आदमियों पर टैक्स का बोझ लाद कर, खिला-पिला कर पालने में कौन सा न्याय है?

जेल में काटे हुए समय का एक साधारण अपराधी पर क्या असर पड़ता है यह भी सोचने की बात है! जिस समय अपराधी आरम्भ में जेल के फाटक के भीतर क़दम रखता है, उसका मन भय और अपनी करनी के प्रति पश्चात्ताप और परिताप से विभोर हो उठता है। उसे संसार अंधकारमय दिखायी देता है। प्रति क्षण वह उस अभागे क्षण को बिसूरता है जब उससे न जाने कैसे कोई चूक हो गयी या उसकी अक़्ल पर पर्दा पड़ गया। वह रो-रोकर अपने आराध्य देवता से क्षमा और सहायता की प्रार्थना करता है। भविष्य में निष्कलंक और संयम का जीवन व्यतीत करने का प्रण करता है। यह है—समय, जब आप उसे नये साँचे में ढाल सकते हैं।

छः मास व्यतीत हो जाते हैं। अब वह उतना द्रवित नहीं। वह सोचता है—"भाग्य के विद्रूप से वह नरक में आ पड़ा है। उसे चुपचाप समय काट कर बाहर पहुँचना है।"

एक साल और बीतता है। अब उसे कभी ही कभी घर की याद आती है। जेल के भीतर आते ही उसे जीवन जैसे बिलकुल असम्भव मालूम होता था, वह बात अब नहीं। वह 'तिकड़म' सीख गया है। जेल के वातावरण के अनुरूप उसके गुण स्वभाव हो गये हैं। जेल

उसका घर हो गया है। चातुर्य से जेल के भीतर ही छोटी-मोटी चोरी कर वह अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है।

वर्ष पर वर्ष गुज़र जाते हैं। आख़िर एक दिन आता है, वह अपने चिर आवास को छोड़ कर पुराने, परन्तु भूले हुए संसार में जाता है, जहां से बहुत दिन हुए उसकी जड़ें उखड़ चुकी हैं, जहां उसके लिये समाज की ओर से तिरस्कार और पुलिस की ओर से पग-पग पर शंका प्रतीक्षा कर रही है। कई दिन पहले से उसकी भूख और नींद हराम हो जाती है। उसे आसरा किसका है? जेल में आत्म-निर्भरता, आत्म-सम्मान और नैतिकता को खोकर भी उसने कुछ सीखा है। उसने सीख लिया है, अपने से अधिक अनुभवी अपराधियों से अपराध की कला को। उसे अब पुलिस को चकमा दे सकने की अपनी क्षमता पर अधिक विश्वास है। अब वह उतनी जल्दी न्याय के जाल में नहीं फँस जायगा और यदि फँस भी जायगा, तो क्या? जेल ही तो जायगा। आयु का इतना बड़ा भाग जहां उसने काट दिया है, क्या शेष न काट सकेगा?

अब ज़रा यह भी देखना है कि क़ैदी को आत्म-सुधार के लिये क्या प्रोत्साहन मिलता है? जेल का कोई भी अफ़सर—महाप्रभु सुपरिण्टेण्डेण्ट से लेकर क्षुद्र चपरासी तक अपना यह कर्त्तव्य नहीं समझता कि क़ैदी को सहानुभूति या प्रोत्साहन का एक भी शब्द कहे। उन्हें मतलब है जेल के क़ानून और अपना रोब पूरा रखने से। जेल का मंत्र है—"कम खाना, ग़म खाना, तब कटे जेलख़ाना।" इस व्यवस्था में सुधार को कहाँ स्थान है?

हमारा क़ायदा है कि पुलिस ने अपराधी को पकड़ अदालत के सामने पेश कर दिया। जो सज़ाएं आज से सौ वर्ष पूर्व के सामाजिक

विकास के अनुरूप थीं, लड़ियों और श्रेणियों में गुथी 'पेनल-कोड' में सजी हैं। जज साहब ने देखा—अपराध के नाम से जो माला फिट आयी, अपराधी को सज़ा के रूप में पहना दी। अदालत से जेल के नाम वारण्ट चला—यह सज़ा अमुक आदमी पर पूरी की जानी चाहिए। जेल को और बात से मतलब नहीं, मतलब है सज़ा करने से।

'पेनल-कोड' यानी दण्ड-विधान दण्ड देता है, शिक्षा की व्यवस्था नहीं करता। जेल उस दण्ड को पूरा करता है। क़ैदी दण्ड को दांत पीस कर झेलता है। समाज ख़र्च निभाने के लिये टैक्स भरता है। क़ैदी छूटता है, जैसा पहले था वैसा ही नहीं, बल्कि उससे बहुत भयंकर। फिर वही चक्कर—वही चोर-कोतवाल का खेल!

यदि हम दर-असल सुधार चाहते हैं, तो दण्ड-विधान के लिये उसमें जगह नहीं, उसमें सुधार-विधान के ही लिये जगह है। आज जेल-सुधार का मतलब समझा जा रहा है—भुने हुए चने की जगह छौंके हुए चने, दाल में कुछ ज़ीरा-धनिया, ओढ़ने के लिये गर्मियों में एक गाढ़े की चद्दर, हो सके तो थोड़ा सा खेल-कूद।

ज़रूरत है, असल में समस्या को जल्लाद की दृष्टि से न देख कर शिक्षक की दृष्टि से देखने की! ज़रूरत है, अपराधी को केवल शिक्षा के लिये, सुधार के लिये कुछ समय तक एक अलग जगह रखने की। आयु भर तक उसे पिंजरे में जकड़ कर, उसके शरीर को निढाल, मस्तिष्क को कुन्द और अनुभूति को जड़ कर उसे समाज के लिये बोझ बना देने की नहीं। ज़रूरत तो असल में है—हमारे दण्ड-विधान की जगह एक सुधार-विधान की! सुधार की भावना के अनुरूप तो वही होगा।

भारत पर विदेशी आक्रमण की आशंका

आज दिन शायद ही कोई महत्वपूर्ण जलसा, व्याख्यान या राजनैतिक चर्चा ऐसा हो पाता हो, जिसमें भावी युद्ध और उससे भारत के सम्बन्ध का ज़िक्र न आये। युद्ध अगर होगा, तो युरोप में या एशिया के उत्तरी भाग में, परन्तु वर्त्तमान परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि हज़ारों मील दूर पड़े हुए भी हम इस युद्ध से बचने की आशा नहीं कर सकते।

हमारे राजनीतिज्ञ जब युद्ध की बात सोचते हैं, तो उन्हें कुछ आशा बँधने लगती है। वे कल्पना करते हैं—एक दफ़े साम्राज्यशाही को असहयोग का भय दिला कर कुछ राजनैतिक अधिकार ऐंठने की सुविधा होगी; लेकिन जब हमारे गोरे शासक युद्ध की चर्चा करते हैं, तो वे भारत के आकाश में जंगी हवाई जहाज़ों की गड़गड़ाहट, भयंकर बम-वर्षा और ज़हरीली गैसों की आँधी का चित्र खींच देते हैं। वे भारत की प्रजा को विश्वास दिला देना चाहते हैं कि यह सब भयंकर संकट तेज़ी से चले आ रहे हैं और केवल ब्रिटिश साम्राज्य की छत्र-छाया ही भारत की रक्षा इस सर्वनाश से कर सकती है। भारत पर विदेशी आक्रमण और उससे भारत की रक्षा का प्रश्न इतना व्यापक रूप धारण कर चुका है कि पूर्ण स्वतन्त्रता की कल्पना करते ही वह हमारे सामने आ खड़ा होता है। यहाँ तक कि हमारे कांग्रेस हाई कमाण्ड के नेता इस आशंका के कारण भारत में ब्रिटिश सेना को बनाये रख कर बजाय

पूर्ण स्वतन्त्रता के औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने में अपना कल्याण समझते हैं।

बेजा न होगा, अगर हम यह सवाल कर बैठें कि भारत पर विदेशी आक्रमण का जो भूत खड़ा किया जाता है, उसमें सत्य कितना है ! भारत पर आक्रमण होगा, तो किस वजह से होगा, कैसे होगा; किस रास्ते होगा ! भारत पर आक्रमण की कल्पना और उसका उपाय सोचने से पहले यह भी ख़याल कर लेना ज़रूरी है कि यह आक्रमण भारत के ब्रिटिश साम्राज्य का भाग रहने की अवस्था में होगा या ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतन्त्र हो जाने की अवस्था में। आज हम ब्रिटिश साम्राज्य का अंग ही नहीं, बल्कि उसकी सम्पत्ति हैं। ऐसी अवस्था में यदि भारत पर आक्रमण होता है, तो वह ब्रिटेन की विदेशी नीति के कारण ही होगा और उस आक्रमण का सामना करना भी ब्रिटेन की ही ज़िम्मेदारी है। ब्रिटेन की विदेशी नीति के कारण होनेवाला युद्ध युरोप में आरम्भ होगा और वहीं लड़ा जायेगा, भारत में नहीं। ऐसा युद्ध छिड़ने पर आक्रमणकारी भारत तक उसी अवस्था में पहुँच सकेगा, जब वह पहले ब्रिटेन को समाप्त कर लेगा। इस अवस्था में भारत की जितनी सैन्य शक्ति है, वह ब्रिटेन की सम्पत्ति होने के कारण शत्रु के हमारे देश तक पहुँचने से पहले ही ब्रिटेन की रक्षा में समाप्त हो चुकी होगी और हमारे लिये शत्रु का सामना करने का तरीक़ा, कवि अकबर के शब्दों में रह जायगा—बाज़ारों को भण्डियों से सजा कर, जगह-जगह स्वागत-वेलकम लटका कर उसकी अभ्यर्थना करना। हो सकता है, सत्य और अहिंसा के प्रेमी शत्रु का सामना अहिंसात्मक सत्याग्रह से करने का निश्चय किये बैठे हों, परन्तु जब तक अहिंसात्मक सत्याग्रह से हम एक शत्रु को देश से बाहर निकालने में सफल नहीं हो जाते, दूसरे

शत्रु का देश में आना रोक भी नहीं सकेंगे। उस समय तो परम्परागत प्रथा के अनुसार भारत स्वयं ही विजयी शक्ति की सम्पत्ति बन जायगा।

ब्रिटेन इस बात को न समझता हो, सो बात नहीं। हमारी सेना का संगठन एक ख़ास उद्देश्य से किया गया है। उसे एक ख़ास प्रकार की शिक्षा दी गयी है। कहने को इस सेना के दो उद्देश्य हैं। पहला उद्देश्य है—देश में शान्ति-रक्षा, जिसे स्पष्ट शब्दों में कहा जाय, तो इसका अर्थ होगा, इस देश पर क़ब्ज़ा क़ायम रखना। दूसरा उद्देश्य इस सेना का बताया जाता है—भारत का विदेशी आक्रमण से रक्षा करना। अपने पहले उद्देश्य को यह सेना ख़ूब पूरा कर सकती है। १८५७ में इसका प्रमाण मिल चुका है और उसके बाद भी, जब कभी प्रजा के आन्दोलन ने उग्रता दिखलायी, हमारी सेना ने पुलिस के कर्त्तव्य का पालन भली प्रकार किया। रही विदेशी आक्रमण की बात, सो भारत में ब्रिटिश राज्य क़ायम होने के बाद से कभी हुआ ही नहीं और भारत की भौगोलिक और राजनैतिक परिस्थिति के कारण उसकी अधिक सम्भावना भी नहीं। यदि सीमा-प्रान्त के क़बीलों या अफ़ग़ानों के दो-चार धावों को आक्रमण कहा जाय तो दूसरी बात है।

हमारी सेना की शिक्षा केवल इन्हीं आक्रमणों का मुक़ाबला करने लायक़ है और इस काम में भी उसकी योग्यता का यह हाल है कि युद्ध की सामग्री के सभी आधुनिक उपकरणों के होते हुए भी पचास वर्ष से इन क़बीलों के साथ सर मार कर भी वे इन्हें बस में नहीं कर सकी। जब कभी बड़े पैमाने पर युद्ध का अवसर आया, भारतीय सेना की शिक्षा और तैयारी काम न आयी। मैसोपोटामिया में टिगरिस नदी के किनारे भारतीय सेना की असफलता और निकम्मापन इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है।

भारतीय सेना की जाँच के लिये जो कमेटी सर चेटवुड की अध्यक्षता में नियत की गयी थी, उस कमेटी ने भी भारतीय सेना को आधुनिक युद्ध के लिये सर्वथा व्यर्थ ठहराया था। भारतीय सेना के पास जितनी युद्ध-सामग्री है, वह सब या तो प्रजा का या फिर सीमा-प्रांत के क़बीलों का सामना करने लायक़ ही है। इस ज़माने की लड़ाई के सब से ज़रूरी हथियार सामुद्रिक सेना और वायु-सेना भारत में प्रथम तो है ही नहीं और जो है, वह बिल्कुल व्यर्थ; केवल शांति के समय प्रजा को दमन करने लायक़ ही है और जैसा कि हम ऊपर ज़िक्र कर आये हैं, संकट का समय आने पर यह शक्ति ब्रिटेन की रक्षा के लिये व्यवहार में लायी जायगी, न कि भारत की रक्षा के लिये। ब्रिटेन को वास्तव में भारत पर आक्रमण होने का भय कभी रहा ही नहीं। वह यह अच्छी तरह समझता है कि भारत पर आक्रमण करने वाली कोई शक्ति एशिया में है ही नहीं। जापान मंचूरिया या चीन पर हमला कर सकता है, लेकिन भारत पर आक्रमण करने की बात वह नहीं सोचता।

युरोप की कोई शक्ति भारत पर आक्रमण करेगी, तो उसे पहले ज़रूरी तौर पर इँगलैंड से लोहा लेना पड़ेगा। अलबत्ता, एक ज़माने में जब कि रूस में ज़ार का शासन था, पश्चिमोत्तर प्रान्त में रूसी सेना के भारत पर आक्रमण होने की आशंका हो सकती थी। इस भय का ख़याल कर ब्रिटेन ने अफ़ग़ानिस्तान के अन्दरूनी शासन में अपना प्रभाव पूरे तौर पर क़ायम रखा। रूस में समाजवादी शासन और नीति स्थापित हो जाने के बाद से वह भय निर्मूल हो गया।

भारत की भूमि पर कोई शत्रु हमला कर कहाँ से सकता है! हज़ारों मील दूर से हवाई जहाज़ों पर बम लाद-लाद कर कोई दुश्मन

आयेगा और आकाश से बम उड़ेल कर इस देश पर क़ब्ज़ा कर लेगा, यह बात केवल उस भोली प्रजा को समझायी जा सकती है, जिसे युद्ध का कुछ ज्ञान या अनुभव नहीं। आकाश से बम बरसा कर इकट्ठी हुई भीड़ को ज़ख्मी किया जा सकता है, मकान गिराये जा सकते हैं और आग भी लगायी जा सकती है; परन्तु देश पर क़ब्ज़ा नहीं किया जा सकता। खाइयों और ख़न्दकों में छिपी हुई सेना का हवाई जहाज़ ख़ात्मा नहीं कर सकते। वे केवल उन्हें परेशान कर सकते हैं। हवाई जहाज़ के ज़मीन पर उतरते ही वह ख़तरे में पड़ जायगा और फिर शत्रु के देश में हवाई जहाज़ से सेना उतारना, जहाँ एयरोड्रोम अर्थात् हवाई जहाज़ के अड्डे पर दुश्मन का क़ब्ज़ा हो, शेख़ चिल्ली की कल्पना है। यह तो अनबूझ आदमी भी जानता है कि हवाई जहाज़ जहाँ चाहे उतर नहीं सकता।

समुद्री मार्ग से किसी देश पर क़ब्ज़ा कैसे हो सकता है, यह भी हम कल्पना नहीं कर सकते। दुश्मन की उस ज़मीन पर, जहाँ उसका सैन्य बल है, समुद्र के किनारे खाइयों में सुरक्षित पड़ा है, कोई आक्रमणकारी सफलता-पूर्वक अपनी सेना उतार सके, यह विश्वास करना कठिन है। समुद्री घेरा डाल कर केवल इँगलैण्ड जैसे देश को विजय किया जा सकता है, जो अपना पेट भरने लायक़ खाद्य सामग्री पैदा नहीं कर सकता और शत्रु द्वारा समुद्री मार्गों के बन्द कर देने पर या तो आत्म-समर्पण कर देगा या भूखा मर जायगा। भारत को यों घेरा डाल कर पराजित करने की चेष्टा करने पर घेरा डालने वाली शक्ति ही इससे पहले नष्ट हो जायगी कि भारत-जीवन के लिये उपयोगी सामग्री न पाकर आत्म-समर्पण करने की बात सोचे।

इतिहास में समुद्री मार्ग से आक्रमण कर भारत में पैर जमा सकने

का केवल एक उदाहरण है और वह है—अब्दुल क़ासिम का, जिसने लगभग ईसा की सातवीं शताब्दी में फ़ारस की खाड़ी से आकर सिंध पर आक्रमण किया था। आज भारत के समुद्र के निकटवर्ती प्रान्त ईसा की सातवीं शताब्दी की तरह अरक्षित नहीं और न देश छोटे-छोटे अनेक चक्रवर्ती राज्यों में बँटा हुआ है, जिन्हें पड़ोसी को पिटते देख अपनी शक्ति बढ़ाने की आशा से प्रसन्नता होती थी। रही अंग्रेज़ों की बात। अंग्रेज़ों ने इस देश में आक्रमणकारी के रूप में प्रवेश नहीं किया था। इस देश में कई बरस बस कर अपने गढ़ स्थापित कर उन्होंने आक्रमण का काम शुरू किया था। इस देश में या देश की सीमा पर आधार बनाये बिना कोई शक्ति भारत पर सफलता-पूर्वक आक्रमण करने की आशा नहीं कर सकती।

उपरोक्त बातों का ख़याल करते समय हमें यह भी याद रखना चाहिए कि युद्ध और रक्षा राजनैतिक अवस्थाएँ हैं। राजनैतिक क्षेत्र में विदेशी आक्रमण से भारत की रक्षा का क्या महत्व है? ब्रिटेन की दृष्टि में भारत की रक्षा का कोई मूल्य नहीं। ब्रिटेन भारत की रक्षा के लिये नहीं, बल्कि भारत ब्रिटेन की रक्षा के लिये है। स्वयं भारत की दृष्टि में भी भारत की रक्षा का कोई मूल्य नहीं; क्योंकि भारत को न तो युद्ध करने का ही अधिकार है और न अपनी रक्षा करने का ही हक़ है। भारत को अगर अपनी रक्षा करने का अधिकार होता, तो वह पहले ब्रिटेन से ही अपनी रक्षा करता।

हमारी सेनाओं के सिपाही देश की रक्षा के भाव से या अपना कर्तव्य समझ कर सेनाओं में भर्ती नहीं हुए हैं। वे हैं एक क़िस्म के मज़दूर, जिन्हें नर-संहार करने और क़वायद करने के लिये मज़दूरी दी जाती है। ये बहादुर सिपाही अगर आज २०-२२ रुपये के लिये ब्रिटिश साम्राज्य-

शाही सेना में भर्ती हो भारत की रक्षा करते हैं, तो कल जापान की पल्टन में होकर चीन का ध्वंस, या इटली की फ़ौज में भर्ती होकर पश्चिमी एशिया या पूर्वी अफ्रीका को रौंद सकते हैं। भारत की रक्षा के लिये उनकी कोई भावना नहीं, कोई उत्साह नहीं। सेना से अधिक महत्व है, देश की प्रजा के रुख का। भारत की जनता का रुख भावी युद्ध की बाबत क्या है, यह बात जर्मनी और रूस को चाहे बताने की ज़रूरत हो, ख़ुद भारत या उसके स्वामी इँगलैण्ड को बताने की ज़रूरत नहीं।

देश की जनता कभी इस बात की कल्पना भी नहीं करती कि इस देश पर आक्रमण हो सकता है और उसे इससे भयभीत होने या इसके लिये तैयार रहने की ज़रूरत है। भारत पर आक्रमण होने का अर्थ प्रजा की समझ में भारत की प्रजा पर आक्रमण होना नहीं, बल्कि देश का अंग्रेज़ों के प्रभुत्व से निकल कर आक्रमणकारी के हाथ में चला जाना है। अपने वर्त्तमान प्रभुओं के प्रति, प्रजा के उस अंश को छोड़कर, जो सरकारी नौकरी करता है या जो अंग्रेज़ों से जागीरें पाकर बैठा है, प्रजा के मन में कोई मोह नहीं। देश की प्रजा तो दर असल चाहती है कि ब्रिटेन युद्ध में फँस जाय। बेकार सोचते हैं युद्ध होने पर उन्हें कहीं न कहीं नौकरी मिल जायगी, बनिया सोचता है भाव चढ़ जायगा, किसान सोचता है फ़सल की क़ीमत अच्छी मिल जायगी, मिल-मालिक को बड़े-बड़े आर्डर मिलने की उम्मीद है। यहाँ की प्रजा युद्ध को आर्थिक संकट का उपाय समझती है। यहाँ के कुछ राजनीतिज्ञ ब्रिटेन के युद्ध-संकट में फँसने पर उससे भाव तोल कर स्वराज्य की कुछ क़िस्तें ऐंठ लेना चाहते हैं। यहाँ की जाग्रत जनता युद्ध होने पर क्रान्ति को सफल बनाने का स्वप्न देख रही है। मतलब यह कि भारत पर

आक्रमण होने की आशंका से देश की प्रजा की नींद हराम नहीं हो रही है।

अब रही भारत के स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के बाद उस पर किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण की बात! हम समझते हैं, पराधीन भारत की अपेक्षा स्वाधीन भारत अपनी भूमि पर होने वाले विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकने के योग्य होगा; क्योंकि उस समय भारत को अपनी रक्षा करने का अधिकार होगा और इस देश की प्रजा विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करने की ज़रूरत समझने लगेगी और उस ओर वह ध्यान भी देगी। उस अवस्था में हमें आक्रमण का भय किस दिशा से हो सकता है! क्या अफ़ग़ानिस्तान से! उस समय अफ़ग़ानिस्तान भारत पर आक्रमण करने की बात न सोच कर भारत से अपनी रक्षा की ही बात सोचेगा; बल्कि हम यह भविष्य-वाणी कर सकते हैं कि अफ़ग़ानिस्तान उस समय भारत का एक अंग होगा, ठीक उसी प्रकार, जैसे मध्य एशिया के छोटे-छोटे राज्य रूस के अंग बन गये हैं। स्वतंत्र भारत आज के पराधीन भारत की तरह निर्बल देशों का दमन करने के लिये साम्राज्यशाही का हथियार नहीं बना रहेगा। वह ख़ुद स्वतंत्र होगा और दूसरे देशों की स्वतंत्रता की क़द्र करेगा। दूसरे देशों के साथ उसके राजनैतिक समझौते भी होंगे, जो शांति-रक्षा में उसके सहायक होंगे।

आज हम शान्ति-रक्षा के लिये स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय संघ की असफलता का नाटक देख रहे हैं। इस संघ का जो परिणाम हुआ, उसके अतिरिक्त दूसरा हो ही नहीं सकता था। अशांति का कारण है— भिन्न-भिन्न देशों के पूँजीपतियों का अपना-अपना साम्राज्य बढ़ाने की इच्छा। साम्राज्यशाही शक्तियों का यह अन्तर्राष्ट्रीय गुट शांति-स्थापन

करने की कोशिश नहीं, बल्कि अशांति को क़ायम रखने की कोशिश करता रहा है और कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय संघ द्वारा इंगलैण्ड और फ्रांस ने देशों को दबाकर अपना आधिपत्य बढ़ाने की चेष्टा की। यह अन्तर्राष्ट्रीय संघ शांति के मूल सिद्धान्त के ही विरुद्ध है।

स्वतंत्र भारत एक दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना करेगा, जिस में साम्राज्यशाही और युद्ध का विरोध करने वाले राष्ट्र ही सम्मिलित होंगे। यदि रूस, चीन और भारत का ऐसा एक संघ क़ायम हो जाय, तो कम से कम एशिया में स्थायी शांति क़ायम हो सकती है। इस संघ के क़ायम हो जाने पर शेष संसार की कोई शक्ति एशिया के किसी देश पर आक्रमण करने का ख़याल भी न कर सकेगी।

भारत को विदेशी आक्रमण से बचाने का केवल यही एक उपाय है। शेष तैयारियाँ जो भारत को भावी युद्ध के भय से बचाने के लिये की जा रही हैं, एक धोखेबाज़ी है। जिसका मतलब है—साम्राज्यशाही युद्धों में तोपों की मार के आगे उनकी आड़ बनाकर साम्राज्यशाही शक्ति को बचाने की चेष्टा करना।

हम किधर जा रहे हैं ?

हमारा समाज अपने कट्टरपने और क़दामत-परस्ती के लिये मशहूर है। हम लोगों में, बिना ख़ुद ग़ौर किये, बग़ैर अपनी बुद्धि को इस्तेमाल में लाये, जो कुछ होता चला आया है; हमारा समाज जिस क़ायदे-क़ानून को मान कर चलता आ रहा है, उसी को मानते चले जाना ही हमारी इसे दिमाग़ी ग़ुलामी की बुनियाद है।

इस समाज में ख़ास अधिकारों या हक़ूक़ को लेकर समाज के कुछ हिस्से या श्रेणियाँ अपना दबदबा क़ायम रख कर अपनी हुकूमत चलाती आयी हैं और दूसरे हिस्से बेबसी की हालत में उस हुकूमत के आगे सिर झुका कर सब ज़ुल्म और मुसीबत को सिर्फ़ इसी लिये सहते आये हैं और सह रहे हैं कि ऐसा बड़ों के वक़्त से होता चला आया है। इन सब बातों के कारणों पर, उनके उचित या अनुचित होने पर हमें ग़ौर करना चाहिए। हमें अध्ययन द्वारा उन आदमियों के ख़यालात को जान कर—जिन्होंने कि इन सवालों को ख़ूब ध्यान से सोचा है और इन पर ग़ौर किया है—सवाल-जवाब करने और बहस करने के बाद यह समझने की कोशिश करनी होगी कि हमारे इस समाज के लिये सबसे अच्छी व्यवस्था पैदावार और निर्वाह का ढंग कौन सा हो सकता है! हमारा यह समाज चाहे इसे ख़ुद भगवान् ने अपनी इच्छा या अक़्ल से बनाया हो और चाहे इंसान ने ही इसे ख़ुद गढ़ कर खड़ा कर

दिया हो, सन्तोष-जनक हालत में नहीं है, हमें यह मानना ही पड़ेगा। हमारे इस समाज में हमें ऐसी-ऐसी अजीब बातें दिखायी देती हैं, जो इन्सान के दिमाग़ को चक्कर में डाल देती हैं। हम लोग यह जानते हैं कि हमारे देश में लाखों ही आदमी भूखे और नंगे तड़पते फिरते हैं और इसके साथ ही हम यह भी जानते हैं कि हमारे देश में करोड़ों मन ग़ल्ला और अरबों गज़ कपड़ा पड़ा हुआ है और इस ग़ल्ले और कपड़े के मालिक परेशान हैं कि कोई ख़रीदने वाला नहीं मिलता। हमारे यह लाखों भूखे और नंगे भाई क्यों उस कपड़े और ग़ल्ले को इस्तेमाल में नहीं ला सकते ? इस सवाल के कई जवाब हमें दिये जाते हैं और उन जवाबों में से एक जवाब यह है कि उन लोगों की बेबसी का कारण उन लोगों का कर्म-फल है, कोई क्या करे ! ऐसे जवाबों से हम लोगों की तसल्ली नहीं हो सकती। कुछ लोग हमें यह भी बतायेंगे कि हम लोगों की ग़ुलामी वजह से ही यह सब कुछ है। हम मानते हैं कि हमारी ग़ुलामी की वजह से हमारी मुसीबतें बहुत ज़्यादा बढ़ गयी हैं, लेकिन यह भी हम जानते हैं कि आज़ाद कहलाने वाले मुल्कों में भी भूखे-नंगे बेरोज़गार करोड़ों की तादाद में मौजूद हैं।

एक तरफ़ तो हम देखते हैं कि इंसान ने इतनी तरक़्क़ी कर ली है कि वह मशीनों के ज़रिये अपनी पैदावार को सैकड़ों गुना बढ़ा सकता है दूसरी तरफ़ हम यह भी देखते हैं कि इस उन्नति से फ़ायदा केवल कुछ व्यक्तियों को ही होता है। आम जनता इससे कोई लाभ नहीं उठा रही है। हमारे मज़दूर और किसान मेहनत की चक्की में कुचले और पीसे जा रहे हैं और दूसरी तरफ़ हम देखते हैं कि लाखों की तादाद में आदमी मौजूद हैं, जो काम करने के लिये तरस रहे हैं, लेकिन उन्हें मेहनत और मज़दूरी करने का मौक़ा हासिल नहीं। एक तरफ़ ऐसे

आदमी मौजूद हैं, जिनके पास इतना रुपया है कि उसे ख़र्च नहीं कर सकते। अपनी ज़रूरत के लिये काफ़ी रुपया होते हुए भी वे मिलों पर मिलें खोलते चले जा रहे हैं, दूसरी तरफ़ करोड़ों ऐसे आदमी मौजूद हैं, जिनकी मज़दूरी में अगर इकन्नी बढ़ जाय, तो उनके भूखे मरते बच्चे का पेट भर सकता है। आज यह सब कुछ हो रहा है, इससे आप इन्कार नहीं कर सकते। आपको मानना पड़ेगा कि हमारे समाज के क़ायदे-क़ानून में कहीं एक ग़लती है और उसे ठीक कैसे किया जा सकता है, इस बात की फ़िक्र हमें करनी होगी। किसी दिन भगवान् अवतार धारणकर आयेंगे और सब कुछ ठीक कर देंगे इस आशा पर हम बैठे नहीं रह सकते।

हमारा समाज मनुष्यों का समूह है। इस समूह में हर एक व्यक्ति का यह फ़र्ज़ है कि वह समाज के दुःख को दूर करने और उसको सुखी बनाने की फ़िक्र करे और उसके लिये कोशिश करे, लेकिन अपनी कोशिशों को कामयाब बनाने के लिये यह आवश्यक है कि हम उन दुःखों, समाज की मुसीबतों और बदइन्तज़ामी का कारण ढूँढ निकालें। तभी हम उसका उपाय कर सकेंगे। हमारा समाज, जैसा आज दिखायी देता है, सदा से वैसा ही नहीं रहा। यह हमेशा शक्लें बदलता आया है। इसके तरीक़े और प्रबन्ध में उन्नति होती आयी है। इतिहास के पढ़ने से हमें यह मालूम होता है कि एक रोज़ हमारा समाज खानाबदोशी की हालत में घूमता-फिरता था। उस समय किसी आदमी की कोई सम्पत्ति या जायदाद नहीं थी। गिरोह के रूप में घूमते हुए जहाँ जो मिल गया, खा लिया और आगे चल दिये। उसके बाद झोंपड़े और गाँवों को बसा कर हमारा समाज बसने लगा। लोग अलग-अलग गाँवों में कुछ-कुछ ज़मीन लेकर अपना-अपना

राज क़ायम कर बैठ गये। जब यह गिरोह बहुत बड़े-बड़े हो गये, तो यह परिवारों में बँट गये और गिरोहों की ज़मीन परिवारों में बँट गयी। वह ज़मीन परिवारों की सम्पत्ति बन गयी।

इसके बाद व्यक्ति की सम्पत्ति का सिलसिला चलता है। यह सिलसिला तरक्क़ी करता चला गया। व्यापार की तरक्क़ी और कला-कौशल की उन्नति में इस तरीक़े ने बहुत मदद पहुँचायी। एक आदमी के पास पूँजी की शक्ति जमा हो जाने से एक-एक आदमी ऐसे कारख़ाने बना कर बैठ गया, जिसमें लाखों आदमियों के काम करने की ताक़त है। यह बड़े-बड़े कल-कारख़ाने बिना पूँजी के नहीं बन सकते। इनके लिये पूँजी की ज़रूरत है, जिसके पास पूँजी होगी या जो आदमी पूँजी का प्रबन्ध कर सकेगा; वही कल-कारख़ाने बना सकेगा। अपने समाज में पूँजी का इतना महत्व देख कर हमें यह कहना पड़ता है कि आजकल पूँजी का राज्य है—या पूँजीवाद है।

पूँजीवाद में या पूँजी के राज्य में उत्पत्ति या पैदावार इसलिये की जाती है कि पूँजीपति को मुनाफ़ा हो। अगर पूँजीपतियों को मुनाफ़े की उम्मीद न हो, तो वे न व्यापार करेंगे, न कल-कारख़ाने खोलेंगे। पूँजीवाद में चीज़ों के पैदा करने का प्रयोजन लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करना नहीं होता, बल्कि मुनाफ़ा उठाना होता है। इसके अलावा आप देखेंगे, पूँजीवाद में या सरमायादारी के ज़माने में, जब सब काम पूँजी और सरमाया से ही होते हैं और पूँजीपति या सरमायादार को अपने मुनाफ़े का ही ख़्याल होता है, जब हर एक पूँजीपति अधिक से अधिक मुनाफ़ा उठाना चाहता है, तो उनमें आपस में मुक़ाबला शुरू हो जाता है। इस

मुक़ाबले का नतीजा यह होता है कि कमज़ोर पूँजीपति को बड़ी पूँजीवाला हरा कर बरबाद कर देता है। हम बाज़ार में मालदार दूकानदारों के सामने छोटे-छोटे दूकानदारों को उजड़ता नित्य देखते हैं। परिणाम यह होता है कि समाज और देश की पूँजी सिमट-सिमट कर कुछ थोड़े से आदमियों के हाथ में आ जाती है और बाक़ी लोग बेरोज़गार हो जाते हैं। तरह-तरह की मुसीबतें समाज में दिखायी देने लगती हैं। पूँजीवाद में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इसलिये पूँजीवाद से पैदा होने वाली मुसीबतों को दूर करने के लिये हमें समाज के ढंग को बदलना होगा। हमें ऐसा ढंग जारी करना होगा, जिसमें समाज के सब काम चन्द आदमियों के मुनाफ़े के लिये नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समाज की ज़रूरतों को पूरा करने के लिये हों और शायद उसके लिये यह ज़रूरी होगा कि पैदावार और उत्पत्ति के जो ज़रिये हैं, उदाहरण के तौर पर—कल-कारख़ाने, मिलें, खेती की ज़मीन वग़ैरह-वग़ैरह वे किसी एक आदमी की सम्पत्ति न होकर समाज की साझी सम्पत्ति हो और इसका इस्तेमाल पूरे समाज के लाभ के लिये किया जाय।

पूँजीवाद सिर्फ़ एक ही देश में और समाज में मुसीबतें ढाता हो, सो बात नहीं। किसी भी देश के पूँजीवादी जब अपने देश में लूट-खसोट कर चुकते हैं और मुनाफ़े की गुंजाइश नहीं रहती, तो दूसरे देशों पर अपने पंजे फैलाते हैं। उसके लिये उन्हें दूसरे देशों को अपनी गुलामी में बाँधना पड़ता है और साम्राज्य क़ायम करने पड़ते हैं। साम्राज्य क़ायम करने के लिये एक देश के पूँजीपति दूसरे देश के पूँजीपतियों से लड़ते हैं, जिसमें ख़ून की नदियाँ बहती हैं। देश-भक्ति के नाम पर एक देश के देश-भक्त दूसरे देश के देश-भक्तों पर ज़ुल्म ढाते हैं। यह सब पूँजीवाद के फल हैं। हम लोग साम्राज्यशाही के

नाश के नारे लगाते हैं। यह साम्राज्यशाही क्या है? साम्राज्यशाही दरअसल पूँजीशाही या पूँजीवाद का ही बढ़ा हुआ रूप है। बिना पूँजीवादी या पूँजीशाही का नाश किये साम्राज्यशाही का नाश नहीं हो सकता।

कुछ लोग साम्राज्यशाही का नाश तो चाहते हैं, परन्तु समाजवाद या Socialism से भी डरते हैं। उन लोगों का मतलब शायद अंग्रेज़ी साम्राज्यशाही की जगह हिन्दोस्तानी साम्राज्यशाही क़ायम करना है। गोरी साम्राज्यशाही की जगह काली साम्राज्यशाही बना देने से देश के लाखों-करोड़ों आदमियों का क्या फ़ायदा होगा, हम नहीं समझ सकते।

समाजवाद अच्छा है या नहीं? इस बहस में जाने का अभी मौक़ा नहीं। इस बात पर ग़ौर करने के लिये हमें पहले समाजवाद को समझना चाहिये और यह तभी हो सकता है जब अपने दिल में बैठे हुए ख़यालात की वजह से हम अपने दिमाग़ का रास्ता बन्द न कर दें। दुनिया के बदलते हुए हालात ने जिन नये सिद्धान्तों को जन्म दिया है, उन पर हम ग़ौर करें।

समाजवाद दुनिया की सब से नयी फ़िलासफ़ी है और दुनिया के साथ-साथ चलने के लिये हमारा यह फ़र्ज़ हो जाता है कि हम उसे समझने की कोशिश करें। हम लोग प्रस्ताव पास कर समाजवाद क़ायम नहीं कर सकते। हम सिर्फ़ उसे समझने और समझाने की कोशिश कर सकते हैं। अगर समाजवाद का अध्ययन करने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचें कि समाजवाद ही संसार की सब मुसीबतों और तकलीफ़ों का इलाज कर सकता है, तो जनता उसे ख़ुद क़ायम कर लेगी। फिर दुनिया की कोई ताक़त उसे रोक नहीं सकेगी।

स्वाध्याय का उद्देश्य होना चाहिए—हमारी दिमाग़ी जड़ता को दूर करना। जड़ता का अर्थ है—मृत्यु और गति का अर्थ है—जीवन। समाज का गतिशील रहना आवश्यक है और हमारे समाज के लिये यही लाभदायक है कि अपने पिछले अनुभवों पर विचार कर हम भविष्य में अपनी गति का मार्ग तय करें।

हमारी परिस्थितियाँ हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकतीं। दिमाग़ में सोच-विचार की शक्ति रखने के नाते हमारा यह फ़र्ज़ हो जाता है कि हम अपनी परिस्थितियों को देखें और अपने समाज के संगठन में हो जाने वाले बुनियादी परिवर्तनों को समझें और उनके अनुसार समाज की गति का मार्ग तय करें।

हमारी गुलामी तुम्हें मुबारक

सुबह की सैर से लौटते समय हम एक दृश्य देखने के आदी हो गये थे। लाटूश रोड पर एक दूकान में—वह कमरा बनाया तो गया था दूकान सजाने के लिये, परन्तु वहाँ दूकान न थी। एक मामूली सी खाट कमरे के बीचो-बीच पड़ी रहती थी और भले आदमियों के जैसे बिस्तर पर एक आदमी पड़ा रहता था। आदमी के अंग-प्रत्यंग बहुत दुबले और निढाल से जान पड़ते थे और रंग एकदम बिश्री, पीला सा। आँखें चेहरे पर अनुपात से बड़ी और सहायता के लिये पुकारतीं सी।

भले घर के से रूप-रंग की एक औरत एक झाड़ू से कमरे और बरामदे को झाड़ती दिखाई पड़ती है। कभी वह मरीज़ की कराहट सुन उसकी ओर देखती है और कभी फ़र्श पर बैठे गोद के बच्चे का रोना सुन उसकी ओर ध्यान देती।

स्त्री, पुरुष और संतान का यह छोटा सा परिवार कुछ बेमौक़ा सा मालूम होता था। मैंने उनसे पूछा—'दूकान में यह घर कैसा'?

उन्होंने कहा—'जान पड़ता है, यह आदमी बीमार है, इलाज के लिये लखनऊ आया है। यह लोग यहाँ अपरिचित हैं। मकान ढूँढने की सुविधा नहीं हुई, इसलिए दूकान में ही बस गये हैं।'

उस दूकान के समीप से गुज़रते समय ध्यान अवश्य उधर चला

जाता। कुछ दूर मैं उसी परिवार की बात सोचती चली जाती। आख़िर सड़क के दायीं ओर के एक बँगले से हारसिंगार के फूलों की सुगंध आकर ध्यान बदल देती।

वह आदमी बीमार था, उसकी हालत करुणा-जनक थी; परन्तु मुझे उस स्त्री का ही अधिक ध्यान आता था। उसके चेहरे पर एक विषण्ण निराशा सी, भाग्य के सामने पराजय स्वीकार कर लेने का सा भाव छाया रहता था। उसका चेहरा भाव-शून्य सा जान पड़ता था। पति बीमार है, इसलिए इसके दुःख और चिन्ता का अन्त नहीं। इसे पति की तीमारदारी से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती होगी, तिस पर इसे परदेश में सहायता देने वाला कौन है! बाज़ार से सौदा-सुलफ़ लाने का भी काम इसी को करना पड़ता होगा और बच्चा गोद में है।

बच्चा गोद में है—कितनी मामूली सी बात है कह देने को; परन्तु जिसे बच्चा गोद में लेकर पालना पड़ता है, उससे पूछिये! बच्चा गोद में होने का अर्थ है, रक्त-मांस के एक लोथड़े को तिल-तिल कर आदमी बनाना। तुम आदमी को देख कर उस प्रभु की महानता का अनुमान करते हो और श्रद्धा से उसके चरणों में सर नवा देते हो।

वह प्रभु कहाँ हैं, कैसे आदमी की रचना करते हैं, कौन जानता है? परन्तु हम देखते हैं, गली-गली, घर-घर आदमी की रचना हो रही है; परन्तु इन रचना करने वालियों को कोई कुछ नहीं समझता। वर्ष, मास, सप्ताह, दिन, घंटे और सेकण्ड का वह कौन भाग है जिसमें आदमी की रचना का उत्तरदायित्व लिये इन प्राणियों को चिन्ता से छुट्टी मिलती हो।

ख़ैर, वह भले घर की औरत, उसका आदमी खाट पर

पड़ा है। वह उसकी तीमारदारी से, चिंता से पल भर को छुट्टी नहीं पा सकती। वह अपनी गोद में एक आदमी की रचना कर रही है। उसके सिर कितना बोझ है! इन दो आदमियों का और अपना पेट उसे नित्य भरना है। दिन में, रात में उनकी प्रत्येक आवश्यकता को उसे पूरा करना है। उसका अपना अस्तित्व कोई नहीं, वह अपने आराम या कष्ट की चिंता नहीं कर सकती, उसका अपना समय कोई नहीं, उसे उसका कुछ अधिकार नहीं। अगर वह अपने आराम का ख़याल करती है, तो वह दुष्टा है; नहीं, वह डायन है।

एक भले-चंगे आदमी के आराम की चिंता करना क्या होता है? इसे शायद मेरी बात पढ़ने वाले मुश्किल से जानते होंगे। मैं कुछ-कुछ जानती हूँ, इन्हें अगर पानी के गिलास की ज़रूरत हो, या सिगरेट जलाने के लिये दियासलाई की ज़रूरत हो और वह मुँह से हुक्म निकलते ही सामने न आ जाय, तो इन्हें ऐसा मालूम होता है कि संसार का सब नियम बिगड़ गया, वह अब नष्ट हुआ ही चाहता है और मैं सोच रही थी बीमार और बच्चे की बात, जो सामने रखे गिलास को उठाकर पानी भी नहीं पी सकते, जिन्हें पेट भरने और ख़ाली करने के लिये हर वक्त दो हाथों के सहारे की ज़रूरत है, जो मुँह से कुछ कह भी नहीं सकते, जिनकी आँख का भाव ही समझना होगा, जो शायद प्रांत और देश के राजनैतिक और आर्थिक आवश्यकताओं और परिवर्तनों को भाँप लेने से आसान नहीं है। वह यह सब कुछ करती है, परन्तु पड़ोस में रहने वाले भी शायद इसे नहीं जानते।

मैंने कई पत्र-पत्रिकाओं में पंडित गोविन्द वल्लभ पंत की दिनचर्या

पड़ी है। लोग कहते हैं—उन्हें भोजन करने तक की और सोने की फ़ुर्सत भी नहीं मिलती, उनका त्याग धन्य है ; लोग उनकी जय-जय पुकारते हैं। लोग उनके दर्शनों को तरसते हैं। सारा प्रांत उनकी उँगली के इशारे को सतर्कता से देखता है। शायद यही उनके त्याग, उनके अनवरत परिश्रम का पुरस्कार उन्हें मिलता है। परन्तु उस स्त्री को—उन सब स्त्रियों को जिनसे यह गली-मुहल्ले भरे हुए हैं, क्या पुरस्कार मिलता है ? उनके लिये पुरस्कार का सवाल नहीं उठता, न उठ ही सकता है। उठे कैसे ? यह उनका काम है। इसलिये उनकी सृष्टि हुई है।

हमारा कुत्ता रात भर जाग कर घर की रखवाली करता है। इशारे पर बिजली की तरह लपक कर आता है। कोई हमें छू सके, इससे पहले वह अपनी जान तक दे देगा। एक प्याले में, जो बरामदे में पड़ा रहता है, उसे रोटी डाल दी जाती है। घर में उसका कोई निश्चित स्थान नहीं। उसे मैंने कभी 'थैंक्स !' नहीं कहा। यदि कहूँ तो उसी दिन सूरज डूबने से पहले पागल-ख़ाने भेज दी जाऊँगी। सामने के मकान में जो लाला जी रहते हैं, उनकी घोड़ी घर भर को गाड़ी में लाद कर मीलों घसीटती है; पर मुझे यक़ीन है कि समझदार लाला जी ने घोड़ी की इस सेवा का पुरस्कार देने की बात नहीं सोची होगी।

यूनान आज मिट सा गया है; परन्तु वह दिन भी था, जब यूनान ही संसार का गुरु था। हमारे भारत को ही लीजिए, एक समय क्या था ? भारत और यूनान की उस समय की समृद्धि संसार को चकाचौंध करती थी। दोनों ही सभ्यता के जन्म-दाता समझे जाते हैं। यूनान की सभ्यता का आधार था, वहाँ की दास-प्रथा। दास-प्रथा का नाम सुन कर आपके माथे पर बल क्यों पड़ता ? नाक ऊपर क्यों चढ़ जाती है ?

इतिहास के सब विद्वान् और महान् मार्क्सवादी इस बात के गवाह

हैं, अगर दुनिया में दास-प्रथा न होती, तो सभ्यता का विकास भी न होता। न बन पाते यूनान के सुन्दर मन्दिर और थियेटर, न बन पाते मिश्र के पिरामिड, न बन पाती चीन की दीवार, न बन पातीं अजन्ता की गुफाएँ, दिल्ली की मीनार और आगरे का ताज।

आहा ! वह कैसा सुन्दर दृश्य होगा जब पाँच सौ नर-पशु—मेरा मतलब है गुलाम—रस्सियों से बँधे पंक्तियों में हज़ारों मन पत्थरों से लदी गाड़ियों को खींचते होंगे। उनके पसीने से चमकते हुए शरीर पर पसीने की धारें बह कर धारियाँ पड़ जाती होंगी और घोड़ों पर सवार गुलामों के जमादार लम्बे कोड़े फटकार कर उन गुलामों को जल्दी-जल्दी चलने के लिये ललकारते होंगे। कोई गुलाम साँस तोड़ कर गिर पड़ता होगा, कोड़ा सड़ाक से बोलता होगा, गुलाम के शरीर पर एक सिंदूरी रेखा बन जाती होगी, पसीने में रक्त का मेल हो कर जब लाल-लाल धारियाँ बन जाती होंगी, जब दबी हुई हाय सैकड़ों कण्ठों से निकलती होगी ! वह कैसा सुन्दर दृश्य होगा, जब दास-प्रथा मनुष्य-समाज की सभ्यता के रथ के लिये यों राज-पथ तैयार करती होगी !

क्या ? अब ज़माना बदल गया है ? क्या अब स्वतन्त्रता, समानता और न्याय का ज़माना है ? आदमियों के लिये होगा। स्त्रियाँ तो आदमी नहीं हैं, कभी थीं भी नहीं। उनके लिये स्वतंत्रता, समानता और न्याय का प्रश्न कैसा ? देखिये, मनु महाराज ने समाज-सृष्टि के आदि में हो कह दिया था कि स्त्री बचपन में पिता के, जवानी में पति के और बुढ़ापे में पुत्र के आधीन रहेगी। जैसे पाँच 'क'कार और 'म'कार होते हैं, वैसे ही स्त्रियों के लिये तीन 'प'कार हैं—पिता, पति और पुत्र, इससे बाहर उनका क्षेत्र न है, न होना चाहिए। मैं कहती हूँ, स्त्री आदमी नहीं है। बन्दर की शक्ल आदमी से बहुत कुछ मिलती-जुलती

है, पर वह आदमी नहीं। स्त्री की शकल आदमियों से बहुत अधिक मिलती है, लेकिन इससे वह आदमी नहीं बन जायगी। चीनी लोगों में विश्वास था कि स्त्री के आत्मा नहीं होती। युरोप के विद्वान् भी एक समय इस समस्या में उलझे हुए थे कि स्त्री में आत्मा होती है या नहीं ? अब तो आत्मा का ज़माना ही नहीं रहा। भला हो Materialism या पदार्थवाद का, अब स्त्रियों में आत्मा होने, न होने से कुछ बिगड़ने की सम्भावना ही नहीं रही।

स्त्री न आदमी है, न आदमी का दर्जा ही पा सकती है। वह और घरेलू पशुओं की ही तरह आदमी के उपयोग की चीज़ है। हाँ, बहुत ही अधिक उपयोग की चीज़ है। उसके बिना आदमी का काम नहीं चल सकता। इसलिये कभी-कभी आदमी भावावेश में आकर उसे पूज्य भी बता देता है। जैसे गाय को हम दूध के बिना काम न चल सकने के कारण गौ माता कहते हैं और गले में रस्सी बाँधकर खूँटे पर खड़ा कर देते हैं, या नदी को गंगा मैया कहकर शहर भर का मल उस में बहा देते हैं ; इन चीज़ों की सार्थकता इसी बात में है कि वह मनुष्यदेव के कितने उपयोग में आती हैं।

क्या दासता का ज़माना नहीं रहा ? इस शहर के गली-मुहल्लों में, घर भर में आदमी बनाने की जो कठिन मेहनत की जा रही है, उस मेहनत में लगी हुई स्त्रियों को आप दास न कह कर और क्या कहेंगे ? यह सब वह किस पुरस्कार या मेहनत के लिये करती है ? समाज को क़ायम रखने के लिये ? समाज से उन्हें क्या लेना-देना ? समाज में उनका कुछ अधिकार नहीं ? जब उनका अधिकार नहीं, तो समाज उनका नहीं। वे समाज की हैं, समाज उनका नहीं।

आपने सुना होगा, जब समाजवाद पर बहस चलती है और कहा

जाता है कि समाजवाद आने पर सम्पत्ति सबकी साझी हो जायगी, तब मनचले पूछा करते हैं—तब तो औरतें भी समाज में साझी सम्पत्ति हो जायेंगी ?

यह है, आदमी की ज़हनियत और उसका संस्कार, जो सभ्यता के आडम्बर को फोड़ कर बीच से बोल पड़ता है।

बात तो कह रही थी उस दूकान में रहने वाले परिवार की, कल उस दूकान में दो-तीन और भी औरतें दिखायी पड़ी थीं। सबकी सब परेशान थीं। हम लोगों ने समझ लिया—शायद बीमार की हालत ख़राब होने की ख़बर पाकर कोई सगे-सम्बन्धी आये होंगे। आज जब हम लोग सैर से लौट रहे थे, भाई दूज के दिन कुछ छोटी-छोटी लड़कियाँ हाथों में फूल लिये किलकती जा रही थीं। भाई उनके अभिमान से सिर उठाये साथ चले जा रहे थे। आज उन्हें तिलक होगा। आज यह छोकरे समझेंगे—हम मर्द इन बहिन नामधारी आश्रित जीवों के रक्षक हैं।

आज दूर से ही उस दूकान ने हमारा ध्यान आकर्षित किया। वहाँ से वेदना-भरी चीत्कार का शब्द आ रहा था। दिल कुछ बुरा सा होने लगा। समीप आकर उधर आँख उठाने में डर लगता था, परन्तु आँख रहती न थी।

बाल खोले, कपड़े अस्तव्यस्त, वे भले घर की स्त्रियाँ सर और छाती पीट रही थीं। वह मर गया।

वह भले घर की स्त्रियाँ, लज्जा जिनका प्राण है, बात करती हैं तो ऐसे कि कोई सुन न ले, इस तरह से चीत्कार कर रही थीं! उन्हें सुध नहीं थी कि लोग उन्हें इस अस्तव्यस्त अशोभनीय अवस्था में देख रहे थे। उनमें से जो सबसे बेहाल थी, वही ज़रूर उसकी स्त्री थी।

क्यों न वह यों दुखी हो—उसका संसार आज समाप्त हो गया—उस बात को छोड़ो, उसका ध्यान कर मन दुखी होता है।…… कलेजा मुँह को आने लगता है।

परन्तु यदि इससे उलटा हो जाता, यानी वह स्त्री मर जाती, तो क्या इतना वावेला मचता ? वह औरत मर जाने पर इतनी बदक़िस्मत न होती जितनी आज न मर जाने पर है। इसीलिये समझदार बड़े-बूढ़े जब मर्द को आशीर्वाद देते हैं, तो कहते हैं—तू चिरंजीव हो ! लेकिन जब औरत को असीस देते हैं तो कहते हैं—तेरा सुहाग बना रहे, तेरा पति चिरंजीव हो, अर्थात् तेरे जीवन की सार्थकता बनी रहे—तू किसी के काम आती रहे।

कुछ लोग कहते हैं, यह सब अशिक्षा के कारण है। मैं समझती हूँ, शायद भारत में सभी अशिक्षित हैं। ज़रा कड़वी बात कहूँगी, हमारे मिनिस्टर भी अशिक्षित हैं, हमारे कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता, सोशलिस्ट लोग सभी अशिक्षित हैं। यह भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के फ़िराक़ में जान दे रहे हैं, परन्तु इनकी स्त्रियाँ चिकों के पीछे ऐसे बन्द हैं, जैसे बनारसी बाग़ (चिड़िया-घर) की जालियों के पीछे वे जानवर जिनके उड़ या भाग जाने का ख़तरा है।

एक बड़े विद्वान् डाक्टर साहब हैं, यानी Ph. D.। आप फिलासफ़ी की दवा पिला कर मनुष्य का इलाज करना विलायत से सीख आये हैं, नये विचार के हैं। उनके यहाँ भी वही हाल है जो 'शरीफ़' घरों में होता है। वे इसे अच्छा भी नहीं समझते पर लाचार हैं, क्या करें, मनोविज्ञान शास्त्र के पण्डित हैं—इसलिये उन्होंने इसका कारण भी ढूँढ निकाला है। आप कहते हैं—"Women-folk do not like to cross the limit of Harem because they do not like

to take the responsibility. They shirk it. They haven't got the stamina" (स्त्रियाँ हरम के संसार से बाहर नहीं आना चाहतीं, क्योंकि वे उत्तरदायित्व अपने सिर नहीं लेना चाहतीं। उनमें साहस नहीं, जीवन नहीं। इनका कहना ग़लत कैसे हो सकता है ? आख़िर मर्द हैं न।

हमारे साहब कहते हैं, स्त्रियों को भीतर रहते-रहते अभ्यास हो गया है। भीतर रहने में ही वे अपना सम्मान समझती हैं। उन्हें कोई देख ही नहीं सकता, इसी घमण्ड में वे फूली नहीं समातीं। इनका कहना भी ठीक है। मर्द जो कहे सब ठीक है।

मैं एक बात कहती हूँ, स्त्रियाँ आदमी के लिए बहुत उपयोगी जीव हैं। कुछ लोग उन्हें सजा-धजा कर साथ लिये फिरते हैं। इसमें भी एक संतोष होता है, वैसा ही सन्तोष जैसा कि कुत्तों की प्रदर्शनी (Dog-show) में अपना अच्छा कुत्ता भेजने से होता है। एक ग़ुरूर पूरा होता है—देखो, हम कैसा सुन्दर जानवर लिये फिरते हैं।

हाँ, अगर स्त्री आदमी है, तो वह पुरुष के दर्जे की आदमी नहीं, वह दास है। स्त्री की दासता के सिद्धान्त पर ही समाज क़ायम है। मैं उस दासता के विरुद्ध विप्लव नहीं करना चाहती। मज़े में हूँ। हमारा कुत्ता यदि विप्लव कर भागेगा तो क्या करेगा ?

बहुत हो गया। अब एक बात कह दूँ—हे पुरुष ! तुम्हारी जय हो, हमारा सुहाग क़ायम रहे। हमारी गुलामी तुम्हें मुबारक हो।

पढ़ी-लिखी लड़की

पढ़ी-लिखी लड़की ! वृद्ध उसका ज़िक्र सुन निराशा से मुंह फेर लेते हैं, नौजवान कनखियों से मुस्करा देते हैं और जिन्हें अपने अपढ़ होने का गर्व है वे कुल-वधुएँ मुंह पर आँचल रख लेती हैं।

वह उपहास और वितृष्णा की चीज़ है, परन्तु समाज उसका लोहा मानता है। उसकी क़द्र किये बिना नहीं रह सकता। अनिच्छा से उसे पढ़ी-लिखी लड़की के सामने सिर झुका देना पड़ता है।

साड़ी के आँचल को सिर के ऊपर खिसका कर, एक हाथ में बटुआ, और दूसरे हाथ में कुकरमुत्ता सी छोटी छतरी लिये चेहरे को पाउडर से, बावर्चीख़ाने में फिरी सफ़ेदी की तरह सफ़ेद कर, ऊँची एड़ी के जूते से रूढ़ी जर्जरित समाज की छाती पर ठोकर लगाती हुई वह जब कालिज और बाज़ार पर धावा करती है तो बुज़ुर्ग वितृष्णा से सिर झुका लेते हैं और नौजवान धृष्टता से घूरने लगते हैं। वह अपनी रोमांचित त्वचा पर इन नज़रों के आघातों को सहती, इनसे कुछ सकपकाती, कुछ प्रोत्साहित होती, अपने पैरों में सदियों से पड़ी बेड़ियों को रौंदती चली जाती है। स्वच्छन्द वायु में मनुष्यता के अधिकार का लगा स्वाद वह छोड़ नहीं सकती।

वह यह भी जानती है कि इस ज़ाहिरा तिरस्कार के पीछे पुरुष-समाज की पराजय और कातरता छिपी है। जब समाज में परीक्षा की

कसौटियों पर कसे होनहार नौजवान के ब्याह की बात चलेगी, जिस दिन समाज के मुकुट-मणि आई. सी. एस. का घर बसाने की ज़रूरत होगी, उस दिन सूरज की रोशनी में दिया लेकर लोग उसे ही ढूँढते फिरेंगे।

उसका पिता, उसकी रूढ़िवादी माता, उसका सम्पूर्ण परिवार, इस तथ्य को स्वीकार करता है। इसी लिये गली-मुहल्ले की उठती उंगलियों की उपेक्षा कर, उसे गाड़ी में बन्द कर, स्कूल भेजना पड़ता है। शादी के बाज़ार में उसका दर बढ़ाना ज़रूरी है; वर्ना बाज़ार में बाक़ी बच रहे सौदे की तरह घर में उसका इस्तेमाल होना भी सम्भव नहीं। वह गले का बोझ घर में पड़ा पड़ा सड़ेगा, वंश को ले डूबेगा। इतना ही नहीं, स्वर्ग में विश्राम करते हुए पूर्वजों को भी घसीट कर नरक में पहुँचा देगा।

एक समय था, जब इस प्रकार की अड़चनों का इलाज हमारा समाज कर लिया करता था और भारत की देव-पूज्या वसुन्धरा को कन्या-रत्नों से उपजाऊ बनाया जाता था। लेकिन भारत में कलियुग के चरणों को दृढ़ कर जाने वाले 'विलियम बेन्टिंग' ने वह अधिकार भी भारत की धर्म-प्रिय प्रजा से छीन लिया। अब इस मुसीबत के पैदा हो जाने पर, इस वंश के राहु के उदय होने पर, उसे पालना पड़ता है।

एक समय था, लड़के पढ़ा करते थे; पर आज लड़के से ज़्यादा ज़रूरी पढ़ाना लड़की का हो गया है। लड़का कमबख्त पढ़ नहीं पायगा, आई. सी. एस. नहीं बनेगा, दफ्तर में उसे कहीं कुर्सी नहीं मिलेगी, दूकान कर लेगा, कुछ न कर सकेगा घर की जायदाद सम्भाल लेगा। इससे जायगा तो भूखा ही मर जायगा। पर लड़की?—अगर उस बला

को गले लगाने वाला कोई न मिला, तो वह डायन सब-कुछ खा जायगी।

इस धौंस पर उसका स्कूल जाना शुरू होता है, क़दम-क़दम चढ़ती वह समाज के सर पर चढ़ जाती है और समाज के स्वामी पुरुष की चुटिया पकड़ मन चाहा नाच नचाती है। पुरुष बेबसी से दाँत पीसता है, मगर मजबूर है।

इतना ही नहीं! अब वह कहने लगी है कि समाज में उसकी भी बराबर की जगह है। क्यों वह पालतू जानवर और खानगी नौकर बनी रहे। किसी-किसी का अरमान यह है कि चूल्हे के पास न बैठकर दफ़्तर की कुर्सी पर बैठें, बाज़ार और अदालत चलायें। जो कुछ समझदार हैं, उनके कालेज की सीढ़ियाँ चढ़ लेने का मतलब है, जीवन भर के लिये कौमार्य जीवन में ही कमाई कर एक ऐसा आदमी कमा लेना जो उनके लिये संसार में कल्पवृक्ष के समान हो। बँगला, हवेली मोहय्या करे, फूल-सेज सजाये और दुनिया के वह सब ऐशो-आराम, जिन्हें सिर्फ़ कमर तोड़ देने और दिमाग़ फोड़ देने वाली मेहनत से पाया जा सकता है, खुद तैयार करे और 'प्राण-प्यारी' के अर्पण करे। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा, मेहनत-मशक्कत का उद्देश्य होता है, एक सफल कामयाब पुरुष की 'प्राण-प्यारी' बन सकने की, उसे ख़रीद सकने की योग्यता प्राप्त करना।

हमारे समाज में ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि में इस प्रपंच को सफलता-पूर्वक रच सकना ही स्त्री के जीवन की सफलता है, यह शक्ति स्त्री को प्रकृति ने उसे सब प्रकार से निर्बल और असहाय बना कर भी दी है और वह सदा से इसका उपयोग करती आयी है। वह कहने को पुरुष के पैर की जूती है लेकिन असल में उसके मुँह की लगाम रही

है। मज़ा यह है कि स्त्री की यह दासता स्वीकार करना, अपने भाग्य को स्त्री के पैरों के तले रख देना, पुरुष अपना सौभाग्य, अपनी सफलता समझ गर्व से सर ऊँचा उठा कर चलता आया है।

और पढ़ी-लिखी लड़की की अक्ल देखिये कि इस अधिकार और रियायत को ठोकर मार कर दर-दर, बाज़ार-बाज़ार आवारा फिरना चाहती है। सारी आयु पुरुष को बेवकूफ़ बना कर उसकी मज़दूरी पर चैन करने की अपेक्षा खुद मज़दूरी करने का जुनून उसके सिर पर चढ़ रहा है। घर की चहारदिवारी की अपेक्षा वह धूप और बरसात के मज़े लेना चाहती है। यह परदा, यह घुघंट, जो अब तक उसके आदर और सम्मान का चिन्ह रहा है, वह उसे फाड़ कर फेंक देना चाहती है। परदा अब उसे अपमान जान पड़ने लगा है। वह कुल-वधू इतना नहीं समझ पाती कि गधे धूप और बरसात में रूड़ी—कूड़े-करकट—के ढेर पर चरते नज़र आते हैं; लेकिन क़ीमती घोड़े अगाड़ी-पिछाड़ी बँधे, गले में दोनों तरफ़ रस्सी लगे, बन्द अस्तबल में सम्मान और इज़्ज़त के साथ मालिश कराते हैं। पर पढ़ी-लिखी लड़की को इतना बेवकूफ़ नहीं समझा जा सकता; यह तो हमारे समाज की अक्ल का ह्रास है।

इस सबकी वजह तो बतायी जा सकती है; लेकिन हमारे बुज़ुर्ग, भरे पेट पर हाथ फेर कर आध्यात्म-चिन्तन करने वाले आदर्शवादी बुज़ुर्ग बौखला पड़ेंगे। वे कहेंगे, हर बात में समाज का आर्थिक विश्लेषण करना कम्यूनिज़्म की पहचान है; हालाँकि, काँग्रेस के राज में दिलेरी से बातें की जा सकती हैं, लेकिन कम्यूनिस्ट बनना यहाँ भी ख़तरे से ख़ाली नहीं। लेकिन सच को, चाहे वह कितना ही अप्रिय क्यों न हो, छिपाने के लिये विशेष चतुरता की ज़रूरत रहती है। दुर्भाग्य से हो या

सौभाग्य से इस चतुरता का भरोसा हमें अपने ऊपर नहीं और न उसकी विशेष साध है।

पढ़ी-लिखी लड़की यह सब क्या और क्यों कर रही है ? हमें जान पड़ता है, परिस्थितियाँ उसे मजबूर कर रही हैं। समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ हमारे पारिवारिक संगठन को इतनी बुरी तरह दबा रही हैं कि परिवार का केन्द्र बन कर रहने वाली असूर्यम्पश्या नारी, कुचली हुई निबौरी की गुठली की तरह बाहर निकल आयी हैं। समाज की मौजूदा परिस्थितियों में, अट्टालिका में, चन्दन के छपरखट पर बैठ 'राजा' से नौलखेहार के लिये रूठ-रूठ कर अब जीवन-यात्रा पूरी नहीं हो सकती। 'राजा' की भी एक के बाद एक 'डोला' घर में डाल कर रनिवास बसाने की तौफ़ीक़ नहीं रही।

पुरुष के सुख और भोग का साधन बन जाने पर भी जब अब समाज नारी को हज़्म नहीं कर सकता, तो शिकार ढूँढने के लिये नहीं, रोटी का टुकड़ा ढूँढने के लिये उसे गली-कूचे की ख़ाक छाननी ही पड़ेगी। बग़ल में पुस्तकें दबा कर स्कूल जाना पड़ेगा, स्टेथिस्कोप लेकर डाक्टरी करनी पड़ेगी, नर्स भी बनना पड़ेगा और अगर इस जीवन के संघर्ष में वह किसी सफल परिश्रम पुरुष को फँसा सके, तो वह अपने भाग्य सराहती हुई बच्चे को हाथ की उंगली पकड़ा कर बंगले की सड़क पर टहलती हुई भी नज़र आयेगी।

आर्थिक स्थितियों ने उसे दबाया, अक्षर-ज्ञान ने उसके पैर की बेड़ियों को ढीला किया और देश के राजनैतिक बवंडर ने समाज को हतबुद्धि कर दिया और चतुर नारी पैंतरा बदल कर बाज़ार में खड़ी नज़र आयी। पुरुष की हुकूमत का दबाव उठ चुका था, वह बोली—देश और राष्ट्र की इस लड़ाई में हम तुम्हारे साथ कंधे से कंधा मिला कर चलेंगी।

उस दिन पुरुष ने नहीं जाना था कि यह कंधे से कंधा मिला कर चलने का ख्याल पुरुष के परम्परागत अधिकार को चुनौती है।

और सब सह्य होने पर भी पढ़ी-लिखी लड़की का पुरुष की पाशविकता को यों फटकार बताते फिरना बर्दाश्त नहीं हो सकता। यह यों बर्दाश्त कर लेने की चीज़ भी नहीं। हम दुष्यन्त, भीष्म, अर्जुन और पृथ्वीराज के नाम-लेवा हैं। लौशिनवार और ख़िल्जी की कहानी हम पढ़ते हैं और तिस पर यह तितलियाँ हमारी आँखों के सामने ऐंठती और बल खाती फिरती हैं और हमारे भुज-दण्ड फड़क तक नहीं सकते!

अपने इस पराभव को यों याद कर कर सिवा होंठ चबा लेने के और क्या चारा है? इससे बेहतर यही है कि हमारी पाशविकता को भड़का कर, हमारी असमर्थता का उपहास करने के लिये यह पढ़ी-लिखी लड़कियाँ यों प्रदर्शन न किया करें।

शास्त्र में लिखा है—स्त्री का शृंगार पति के लिये है, उसकी अनुपस्थिति में उसे कूड़े की ढेर की तरह अनाकर्षक बना रहना चाहिए; और यह पढ़ी-लिखी नारी समाज में बन-ठन कर निकलती है। मानों वह एक पुरुष-विशेष की भोग्य सम्पत्ति न होकर आत्म-संतोष के लिये शृंगार करती है। पुरुष का समाज में आत्म-सम्मान के लिये छैला बन कर निकलना हमारी समझ में आता है; परन्तु नारी का यह चिकनियाँ बनने का दुस्साहस असह्य है। पुरुष अगर फिसलता है, तो उसका उत्तरदायित्व सदा स्त्री के ही कन्धों पर होना चाहिए! इस सत्य को यह पढ़ी-लिखी लड़कियाँ क्या भूल जाती हैं!

इन पढ़ी-लिखी लड़कियों के बात-बात पर पुरुष को चुनौती देने के ढंग को आख़िर किस हद तक बर्दाश्त किया जाय! हम समझते हैं—अपनी इज़्ज़त बचाने के लिये इन अबलाओं को सात ख़ून माफ़ कर बेलगाम

छोड़ दिया जाय और शास्त्रों में अपने अधिकारों की महिमा पढ़-पढ़ कर दिल बहलाया जाय ! जीवन के संघर्ष में उन्हें आने दिया जाय, इससे बचने का कोई उपाय नहीं।

हम लौट कर समाज की आदिम अवस्थाओं की ओर जा रहे हैं। इतिहास के विद्वान बताते हैं कि समाज की प्रारम्भिक अवस्था में समाज का संगठन समाजवादी ढंग का था और स्त्री पुरुष की सम्पत्ति नहीं होती थी। समाजवाद फिर चला आ रहा है और स्त्रियों ने पहले से ही कहना शुरू कर दिया है कि वे पुरुष की सम्पत्ति बन कर नहीं रहेंगी।

यह नक्षत्रों का संयोग इतना प्रबल होगा कि पुरुष इसके विरुद्ध सिर मार कर भी कुछ न कर सकेगा। इसलिये हमारी सलाह है कि समाज को चलने दिया जाय और अपने बीते दिनों की याद में ग़म खाकर आठ आँसू सटक लिये जाँय। इस ज़माने में जो इस पढ़ी-लिखी लड़की के जाल में फँस जाय, वह अपने को भाग्यशाली समझे और जो बैरंग रह जाय, वह मन मार कर उसे कोसा करे।

नींद नहीं आती

कुछ लोगों से सुना है, नशे में मनुष्य की विचार-तरंग खूब सजीव हो उठती है, कुछ लोग देव-प्रिया सुरा की स्फूर्ति-दायिनी शक्ति के उपासक हैं, कुछ भाँग भवानी के भक्त और कुछ गाँजे की चिलम के ही क़ायल हैं। एक-आध ग़रीब सिगरेट को छोड़ मुझे नशे के मैदान के इन महारथियों से परिचय प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला, इससे उनकी शान में ज़बान खोलने का साहस नहीं कर सकता; लेकिन सभ्यता की चढ़ती के इस युग में विचार-तरंग को उत्कर्ष देने की ज़रूरत किसे न होगी ? इसी से मन्दी के इस ज़माने में अपने जैसे ग़रीब आदमियों के लिये अज़माये हुए नुसख़े का परामर्श देता हूँ।

मैं दावे से डंके की चोट कह सकता हूँ कि विचारों की उड़ान को स्फूर्ति देने के लिये, कल्पना के घोड़ों को सरपट दौड़ाने के लिये अनिद्रा अव्यर्थ साधन है। आधी रात के सन्नाटे में जब अपनी अकोमल शय्या पर लेटा, छत की ओर आँखें लगाये निद्रा देवी की प्रतीक्षा में रहता हूँ, उस समय मन और कल्पना उच्छृङ्खल हो जहाँ न पहुँचे वही दूर। कितने विचार मस्तिष्क में आ चक्कर काट जाते हैं, इसकी गणना नहीं। ऊँची खिड़की के लोहे के जंगले से कुछ टिमटिमाते हुए तारे दिखलाई पड़ते हैं। उन्हें देख सोचता हूँ, मेरे विचारों की संख्या क्या इन्हीं के बराबर है ?

अनेक विचार अनेक रूप में आते हैं,—कुछ स्मृति के रूप में और कुछ आशा के रूप में। सोचता हूँ—भूत की बात, सुदूर भूत की बात और निकट भूत की बात, और कुहासे से आवृत्त झुट-पुटे भविष्य की बात, कठिन वर्तमान को सदा आड़ में रख कर। भूत मर कर भूत हो गया और भविष्य है स्वप्न; असल है केवल कठिन वर्तमान। सो उस वर्तमान से पल्ला छुड़ा कर मैं कहाँ भाग जा सकूंगा।

मेंढक, झिल्ली, झींगुर अपनी झंकार से रात की वीभत्स नीरवता को सह्य बनाने का यत्न कर रहे हैं, कभी-कभी दूर से कुत्ते का भौंकना भी सुनाई पड़ता है और चुप्पी के बोझ से दबा हुआ दूर और समीप के अनेक घड़ियालों से रात के घण्टों के बजने का मंद, तीव्र और कर्कश···अनेक प्रकार की धातु की टंकोर का शब्द भी कान को सुनाई पड़ता है और नियमित अन्तर से सुनाई पड़ती है—क़ैदी चौकीदारों की पुकार···बारक नम्बर इतने क़ैदी, ताला, जंगला, लालटैन सब ठीक हैं। इस सब के ऊपर सुनाई देता है, सन्नाटे में दबे पैर आकर नैश-वायु का चिंतातुर मूक वृक्षों से रहस्य-वार्ता करना, वायु के कोमल-सुखद स्पर्श से वृक्षों के पत्तों का मर्मर शब्द।

भूत, भविष्य का चक्कर लगा कल्पना फिर वर्तमान के खूंटे पर आ टिकी, दिन भर का क्रिया-कर्म फिर आँखों के सन्मुख क्रम से दोहराया जाने लगा। अपने इस संकुचित संक्षिप्त संसार में भी तो मैं चिन्ता से मुक्त नहीं हूँ। कितनी साध और यत्न से लगाये गये मेरे इन पौदों का क्या कुछ न बनेगा ? क्या दीमक इन सब को खाकर छाई कर देगी ?

दीमक की असंख्य सेना से छाई जाकर सफ़ेद पड़ गयी पौदों की जड़ें मेरी आँखों के सामने दिखाई देने लगीं। सोचा—कितनों को मार

चुका हूँ और कितनों को और मारना पड़ेगा, किस विष से इनका बीज नाश कर सकूंगा ?

इस गूढ़ चिन्ता के तार को तोड़ दिया आकर एक मच्छर ने। धृष्ट जीव कान के इतना पास आकर भिन-भिनाने लगा। हाथ के एक वार से उसका फ़ैसला कर निश्चित होने पर सोचा...सो गया हूँ या नहीं; यही पता लेने यह मच्छर आया था। सोता पाकर दुष्ट ज़रूर डंक मारता। इन को भी कितना ही मारता हूँ, परन्तु बाज़ नहीं आते। आख़िर कितनों को मारूंगा ? यह मुझे सोने क्यों नहीं देते ? क्या आराम से सोने का भी अधिकार मुझे नहीं ?

दूर पर बहुत से मच्छरों की भन-भन सुनाई दी। सोचा, यह क्या दल-बल से आक्रमण की तैयारी हो रही है ? कह चुका हूँ—रात के सन्नाटे में कल्पना अबाध हो उठती है। मच्छरों की उस कानफ्रेंस की बात समझने में कुछ उलझन अनुभव न हुई। समझ गया, यह लोग अपने स्काउट * के न लौट सकने से चिन्तित हो उठे हैं। सोचा—कल सुबह मच्छर-संसार के समाचार-पत्रों में सनसनीखेज़ ख़बर छपेगी—

"एक वीर सैनिक का दुष्ट नर-राक्षस के हाथों बलिदान !" "मच्छर जाति के नर-रक्त पीने के जन्मसिद्ध अधिकार के विरुद्ध मनुष्यों की घृणित कार्रवाई !"

"मच्छर-जाति के नौनिहालो ! यदि तुम्हारी नसों में अपने पूर्वजों का रक्त वर्तमान है, तो मानव-रक्त पान के अपने अधिकार के लिये लड़ मरो !"

सोचा, मच्छरों की असंख्य सेनाओं का आक्रमण होगा और

---

* युद्ध में सेना के आगे चलकर परिस्थिति देखे जाने वाले सिपाही।

दोनों हाथों के दो-चार प्रहारों में अनेक सैनिक वीर-गति को प्राप्त कर जायँगे।

ध्यान फिर दीमक की ओर जा पहुँचा। सोचा—दुष्ट इस समय सुख-शांति से पौदों का सत्यानाश कर रहे होंगे और सम्भव है मैदान में खेत रहे बन्धुओं की स्मृति में महति सभा कर निर्दोष दीमकों पर, जो शांति-पूर्वक प्रकृति-दत्त अधिकार से पौदों से भोजन संचय कर रहे थे नर-राक्षस के जघन्य अत्याचार की निन्दा कर रहे हों।

सोचा, मच्छर या दीमक के मृत्यु-जीवन का संसार में क्या महत्व है, करोड़ों ही मरते हैं।

विचार-शक्ति चोट खा जाग्रत हो उठी। सोचा, मनुष्य में और मच्छर में भेद ही क्या है ! जीवन-रक्षा के लिये संसार में संघर्ष और प्रजनन की प्रवृत्ति उसमें भी मनुष्य के ही समान है, अन्तर है केवल आकार में। वह इतना छोटा है कि उसका कुछ महत्व हो ही नहीं सकता। सोचा—

आकार छोटा होने से ही क्या है और मनुष्य का ही आकार कितना बड़ा है ! ख्याल आया—कुम्भकर्ण का, जिसके मुख में राम की सेना के लाखों बानर प्रवेश कर नाक-कान के रास्ते निकल आते थे और ध्यान आया वृत्रासुर का, जो पृथ्वी को चटाई की भाँति लपेट कर ले चला था और फिर ध्यान आया वोल्टेयर के लिखे शनि-नक्षत्र के निवासी मीक्रोमेग्रा द्वारा इस पृथ्वी के वर्णन का जिसके लिये इस पृथ्वी पर निवास करने वाले जीवों में से ह्वेल मछली को छोड़ अन्य किसी जीव को आकार की क्षुद्रता के कारण अणुवीक्षण-यंत्र (Microscope) द्वारा भी देख सकना असम्भव था, जो विशेष सावधानी से ह्वेल मछली को नाखून के ऊपर टिका माइक्रोस्कोप से

देख कर इसी परिणाम पर पहुँचा था कि यह पृथ्वी केवल ह्वेल मछलियों का स्थान है। भूमध्य सागर जिसके पैर के टखने से ऊपर न पहुँच सका था उसके मुक़ाबले में इस मनुष्य शरीर का क्या महत्व है!

अपने आपको इतना तुच्छ, इतना अगण्य मानने के लिये मन तैयार नहीं हुआ। मन को समझाया—यह सब काल्पनिक वर्णन है। मनुष्य इतना तुच्छ नहीं हो सकता। मनुष्य से बड़ा कौन है! परन्तु विचार-तरंग तो लगाम तुड़ा चुकी थी। उसने कहा—वृत्रासुर और मीक्रोमेगा काल्पनिक होंगे परन्तु यह उनसे भी कहीं बड़ा जीव समष्टि मनुष्य-समाज तो प्रत्यक्ष सत्य है। इस मनुष्य-समाज के आकार से नर-शरीर का क्या मुक़ाबला। समाज शरीर के अंग के कोटि-कोटि रोमों के एक क्षुद्र भाग से भी तो इस नर-शरीर की तुलना नहीं हो सकती। उसके मुक़ाबले में इसका क्या महत्व होगा!

इस अप्रिय आलोचना से मन को हटाने के लिये करवट बदल कर सोचना चाहता था कि कोहनी पर की सूजन ने याद दिला दी—पिछली से पिछली रात एक मच्छर के काटने की। ख़याल आया—इतने मच्छरों से वास्ता पड़ा है परन्तु याद है केवल इसी की, न हो बड़ा वीर था! मच्छरों के इतिहास में 'शत्रुनाशक' के नाम से इसका नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा गया होगा! ४८ घण्टे से तो मुझे ही इसकी याद है। यह अड़तालीस घण्टे मच्छर जाति के पंचांग में न जाने कितने बरसों—पीढ़ियों के बराबर होंगे। असंख्य मच्छरों को नितांत तुच्छ और अगण्य समझ कर भी मैं इस मच्छर को महत्व दिये बिना न रह सका। सोचा, सृष्टि के आदि से आज तक अरब गुणा अरब मनुष्य मर चुके हैं। उनकी कोई भी गणना या हिसाब नहीं। मनुष्य-प्राणी वास्तव

में ही तुच्छ है, निखिद्द है—परन्तु उसी समय ख़याल आ गया, इतिहास में चमकते हुए उन नामों का—राम, कृष्ण, विक्रमादित्य, सिकन्दर, फ़राउन, अकबर, नैपोलियन। अब तक मनुष्य-समाज इनके नाम भूला नहीं है ठीक उसी तरह जिस तरह मुझे परसों रात काटने वाले मच्छर की सुध है।

उच्छृङ्खल कल्पना ने कहा, राम एक बड़ा मच्छर था, सिकन्दर भी एक मच्छर था, उसके डंक में तीव्र विष था जिससे मनुष्य-समाज का इतना बड़ा शरीर तड़प उठा। ऐसे ही फराउन, अकबर और नैपोलियन भी पराक्रमी मच्छर थे। उनका नाम चला आता है क्योंकि वे एक रोज़ समाज को व्याकुल कर सके थे। सोचा—और भी कुछ मनुष्य इस मच्छर ऐसी करतूत कर गये हैं जिससे उनका समाज उन्हें भूल नहीं सका है। सुनते हैं, एक मच्छर था वाल्मीकि, वह ऐसा भिनभिनाया कि आज तक प्रतिभाशाली मच्छर उसका अनुकरण कर सकना गौरव का हेतु समझते हैं। ऐसे ही मच्छर थे होमर, कालिदास और शेक्सपियर।

यह जो एक ढीठ मच्छर मेरे कान के पास आ भिनभिना रहा है। क्या इसके मन में भी नाम कमाने की महात्वाकांक्षा समाई है और इस मतलब के लिये मेरी नींद ख़राब करने में भी इसे कोई संकोच नहीं! कितने शोक और लज्जा का विषय है!

मुझे मंजूर नहीं

दुनिया की सभी अच्छी बातें आरामदेह भी हों, ऐसा मेरा विश्वास नहीं। इन बातों में से एक बात सुबह तड़के उठकर सैर करने जाना भी है। आराम हो या तकलीफ़! डाक्टर के हुक्म से जाना ही पड़ेगा। आँखें मलता हुआ चला जा रहा था।

कुछ दूर एक नौजवान खूब ऊँचे स्वर में गाता चला जा रहा था—'तारीफ़ उस खुदा की जिसने जहाँ बनाया।' इसने दिमाग़ को सचेत कर बची हुई नींद को भी भगा दिया। देखा, मैं ही अकेला नहीं। झुण्ड के झुण्ड लोग चले जा रहे हैं। पर उन्हें काम है, उन्हें मिल में जाना है और मिल का बिगुल बज चुका है। इन्हें रोटी का टुकड़ा कमाने के लिये जाना है। पर मुझ पर कौन बला आई है जो यों परेशान हूँ। खैर, डाक्टर की इच्छा! इस युग में विधाता ने अपने अधिकार डाक्टरों को सौंप दिये हैं।

फिर आवाज़ आई—'तारीफ़ उस खुदा की जिसने जहाँ बनाया।' सोचा, खुदा की तारीफ़ ज़रूर है कि ज़मीं और आसमां बनाये और उस पर हमें भी बनाकर छोड़ दिया। परन्तु उसके आगे किसने क्या बनाया यह दूसरा सवाल है। यह ऊँची तीस हज़ार घोड़ों की ताक़त की मिल और यह चौमंज़िले मकान और यह बाग, यह लहलहाते खेत भी शायद खुदा की मर्ज़ी से, उसी के हुक्म से बने होंगे परन्तु चश्मदीद गवाही तो यह है कि इन्हें इन्सान ने बनाया है।

तारीफ़ उस खुदा की जिसने समुन्दुर बनाया, तारीफ़ उस खुदा की जिसने जंगल, पहाड़, गुफा बनाये; पर मैं न तो समुन्दुर में तैर सकता हूँ और न जंगल पहाड़ की गुफा में मजे से रह सकता हूँ। किसी को अगर बुरा न लगे तो मैं गा देना चाहता हूँ...... ।

काश, मेरी भी आवाज़ उस नौजवान की तरह गाने-लायक होती और मुझे ईंट-पत्थर से सर फोड़ दिये जाने का भय न होता तो मैं गा देता—'तारीफ है उस जवाँ की जिसने मकां बनाया, तारीफ़ है उस जवाँ की जिसने पलंग बनाया, तारीफ है उस जवाँ की जिसने कपड़ा बनाया, और फिर रोटी व दाल बनाई, घोड़ा-गाड़ी बनाई, मोटर लारी बनाई और खाने को दवाई बनाई।'

हाँ, तो बनाई किसने? मैंने पैदा होकर अब तक कुछ नहीं बनाया! कुछ पढ़-लिख कर अगर कुछ बनाया तो दफ़्तर के रजिस्टर में हिसाब बनाया है और बनाई हैं बातें।

लेकिन क्या हर्ज, मैंने नहीं बनाया तो मेरे भाइयों ने बनाया है। अभिमान से छाती फूल उठी। वे सब लोग जो सुबह मिलों में काम करने के लिए चले जा रहे थे, उन्हीं की तरफ देखकर मैंने कहा—हाँ यह हैं मेरे भाई, जिन्होंने सब कुछ बनाया है।

उसी समय मिल में जाने वालों की शक्ल का सा एक जीव पीछे से दौड़ता हुआ दूसरों के साथ आ मिला। वह हाँप रहा था। मालूम होता था पीछे रह जाने के कारण समय की कमी को पूरा करने के लिये उसे दौड़ना पड़ा है। उसने आते ही कहना शुरू किया—'क्या करें यार लड़का बीमार है, उसकी वजह से देर हो जाती है। उसकी माँ रोटी भी नहीं पका पाती।'

सोचा यह हमारा भाई है, इसका लड़का बीमार है, इसे शायद

डाक्टर की भी ज़रूरत पड़ती होगी ! डाक्टर का ख़याल आते ही डाक्टरों की फ़ीस का ख़याल आया। सोचा, यह फ़ीस कहाँ से देता होगा ! डाक्टर की एक दफ़े की फ़ीस तो इसकी महीने भर की कमाई है।

× × ×

सुबह सैर के वक्त दिल को खुश रखना चाहिये, इस ख़याल से मैं ने यह बात भुलाने की कोशिश की। पर जिस बात को भुलाने की कोशिश कीजिये, वह बरबस पीछे पड़ जाती है।

बार-बार ख़याल आने लगा। यह लोग जो चार मंज़िल का मकान तैयार करते हैं, यह लोग जो इतनी बड़ी-बड़ी मिलें रेल-गाड़ियाँ और मोटरें तैयार करते हैं, दुनिया भर का पेट भरने का सामान तैयार करते हैं, इन्हीं को रहने को मकान नहीं। रहते हैं, तो ऐसी जगह, जहाँ भले आदमी सिर्फ़ जानवर बांध सकते हैं और खाते हैं तो वह, जो खाने लायक नहीं और सवारी का तो सवाल ही क्या !

जिन मज़दूरों ने दिल्ली में वायसराय का महल तैयार किया था आज अगर वे उधर से निकलकर जाना चाहें तो नहीं जा सकते। उधर देखते होंगे तो उनके दिल पर क्या गुज़रती होगी ! ओफ़ अन्याय !

फिर ख़याल आया कि अन्याय इसमें क्या है, उन लोगों ने मेहनत मज़दूरी की, उन्हें उसका दाम मिल गया। जितनी मेहनत मज़दूरी मज़दूर लोग करते हैं उस सबका दाम उन्हें मिल जाता है, इसमें अन्याय कुछ भी नहीं। लेकिन फिर ख़याल आया अगर मेहनत की पूरी मज़दूरी मज़दूर को मिल जाती है तो मालिक के पास क्या बच रहता है ! उसे इस परोपकार से मतलब !

उसी समय एक ठेकेदार साहिब का ख़याल आ गया, जिनकी बाबत मशहूर है कि वे एक समय पन्द्रह रुपये के मुंशी थे; लेकिन

अब दस लाख के आसामी हैं। ख़याल आया—एक समय वे अपने करमों के फल से ग़रीबी का दुःख भोग रहे थे परन्तु अब उन्होंने मुनाफ़े के रूप में बहुत सा पुण्य संचय कर लिया है, इसलिये हज़ारों मज़दूरों का पेट भरते हैं और भगवान के नाम पर पुण्य-दान भी करते हैं।

× × ×

मिल के गेट के सामने से गुज़रा तो उस पर लिखा था—"नौकरी की जगह ख़ाली नहीं है।" इसका मतलब हुआ कि बहुत से लोग मज़दूरी ढूंढने आते होंगे। इसका मतलब यह हुआ, बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की होगी जो कुछ मज़दूरी न पाकर भूखे मरते होंगे। यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि आदमी काम करने को तैयार हो तो उसे काम क्यों न मिले? वह भूखा क्यों मरे? पर किया क्या जाय? माल की खपत नहीं होती।

माल की खपत क्यों नहीं होती? यह लोग जो इतने बेकार हैं यह मज़दूरी न मिलने से कुछ ख़रीद नहीं पाते। खपत हो तो कैसे?

और खपत होती क्यों नहीं; जब इतने लोग भूखे-नंगे हैं तो इन लोगों की भूख मिटाने और पेट भरने को क्यों इन्हीं लोगों को मज़दूरी मेहनत करने नहीं दिया जाता। बहुत सोचने पर ख़याल आया, जब तक मुनाफ़े की गुंजाइश न हो काम कैसे चल सकता है।

इस सब का इलाज बताया जाता है समाजवाद! समाजवाद से अगर संसार के इतने दुःख-दर्द का इलाज हो सके तो बुरा क्या है परन्तु समाजवाद मुझे पसन्द नहीं। कहते हैं समाजवाद में सब जायदाद छिन जायेगी। यह मुझे पसन्द नहीं कि मेरा एक मकान है वह भी मुझ से छिन जाय। लेकिन समाजवाद में सुनते हैं सब लोगों को उमर भर खाने को मिलेगा और रहने को घर!

हो सकता है। पर मुझे मज़दूर कहलाना गवारा नहीं। मैं मज़दूर को अपना भाई कह सकता हूँ परन्तु अपने आपको मज़दूर नहीं कह सकता। और फिर दिन भर टोकरी कौन ढोयेगा?

लेकिन हिसाब लगाकर कहते हैं इस कला-कौशल के ज़माने में अगर दुनिया में कोई भी आदमी बेकार न रहे तो केवल डेढ़ घन्टा हर एक आदमी के मज़दूरी करने से ही संसार का पेट भर सकता है। यह भी ठीक हो सकता है। ख़याल भी बुरा नहीं। पर पहले कह चुका हूँ कि दुनिया की हरेक अच्छी चीज़ में मज़ा भी हो यह बात नहीं। समाजवाद यानी मज़दूरों किसानों का राज अच्छा हो सकता है पर मुझे मंजूर नहीं।

न्याय

अहाते के बायीं ओर की दीवार में नया दरवाज़ा लगाने के लिये पुराना दरवाज़ा निकाला जा रहा था। उस समय चौखटे के ऊपर वाले की गिलहरी के कोटर की याद आयी, उसके छोटे-छोटे बच्चों का क्या होगा! किसी-किसी समय दिल में एक अजीब सी कमज़ोरी आ जाती है!

गिरती हुई मिट्टी और ईंटों के बवाल के बीच से एक छोटा सा बच्चा निकल कर सामने नीम के पेड़ पर दो हाथ चढ़ा और गिर पड़ा। दीवार पर बैठा हुआ कौवा लपका परन्तु मटरू मौके पर था। ताली बजा उसने कौवे को ललकार दिया।

बहुत बेचैनी की हालत में बच्चा इधर-उधर झपट रहा था। मेरे कहने से अंगोछा फेंक मटरू ने बच्चे को उठा नीम के तने पर रख दिया। दो हाथ चढ़ वह फिर गिर पड़ा। फिर उसे तने पर सहारे से रखा गया, पर वह सम्भल न सका। उसकी विषण्णता, उसकी वेचैनी देख मुझसे रहा न गया। उसे मैंने अपने हाथों में ले लिया। पुचकारा, दुलारा, परन्तु वह भय से मेरी उंगलियों के बीच से निकल-निकल कूद पड़ता था।

उसकी माँ का कहीं पता नहीं था। खुद बच्चा ऊपर चढ़ नहीं सकता था और दीवार पर कौवे बैठे थे। उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे रूमाल

में लपेट लिया। सोचा—रोटी डाल दूंगा और वहीं इसे बैठा दूंगा। रोटी लेने उसकी माँ आयेगी तभी इसे भी ले जायगी। मैंने पेड़ से या छत से गिलहरी के बच्चे गिर जाने पर उसकी माँ की विकलता देखी है। वह छोटा सा तुच्छ जीव संतान के मोह में कैसे छटपटाता है! उसे जिसने भी देखा है, वह गिलहरी के बच्चे की कभी उपेक्षा नहीं कर सकता।

बाहर से फिर मटरू के ताली बजाकर ललकारने की आवाज़ आयी। उचक कर पूछा—क्या है!

दूसरा बच्चा जब दीवार गिरने के तलातम में निकल कर भागा, तब ताक में बैठे कौवे ने उसे झपट लिया परन्तु मटरू ने ज़ोर से ताली बजा कर शोर किया और मज़दूरों ने ढेले बरसाये। कौवा सुध-बुध भूल गया, और बच्चा उसकी चोंच से छूट गया। मटरू ने उसे उठा मेरे हाथ में दे दिया।

सोचो तो, मौत—साक्षात मौत के मुंह से वह बचा था। गरमी में प्यासे पक्षी की तरह अपना छोटा सा मुंह फैलाये वह बुरी तरह हाँफ़ रहा था। उसकी पतली सी पूँछ आधी कट गयी थी। मुझे वह अपना न समझ सका—शायद उसने सोचा कौवे के मुंह से छीन कर मैं उसे स्वयं निगल जाना चाहता हूँ। उँगलियों में से निकल वह कूद पड़ा। मेरा कलेजा मुँह को आ रहा था। झट से उसे उठा दूसरे बच्चे के साथ लपेट दिया। एक तौलिये में उन्हें लपेट रोटी के टुकड़े जंगले के आगे फैला मैं उनकी माँ की प्रतीक्षा करने लगा।

तीसरा बच्चा जो ऊपर चढ़ गया था नीम की शाख से पट्ट से गिरा—उसे शायद उसकी माँ ऊपर उठा ले गयी थी। एक कौवा साहस कर के ऊपर ही ऊपर से मण्डरा कर निकल गया। बच्चा इतने ऊँचे से

गिरा था कि उसकी आँखें मुँद गयीं। लोगों ने कहा—मर गया,—दिल का क्या हाल हो रहा था !

उसी समय इतने मनुष्यों की आहट और कोलाहल की भी परवाह न कर वह गिलहरी झपटी हुई आयी। गिलहरी का क्या कुछ चेहरा होता है ? उस पर हाव-भाव, विकलता, आँखों में आँसू यह कुछ नहीं दीख सकता परन्तु उसकी व्यग्रता ! वही हज़ार जिह्वा होकर सब कुछ कह रही थी। माँ का स्पर्श पाते ही बच्चा सजग हो गया। माँ किस पागलपन से उसके सम्पूर्ण शरीर को चाटने लगी; मानों वह उसे निगल जाना चाहती थी। चूमने में जो हम स्नेह की चरम व्यक्ति समझते हैं, वही तो !

माँ अपना पेट फाड़ बच्चे को ढाँप लेना चाहती थी। बच्चे को मुँह में दबा गिलहरी फिर नीम पर चढ़ी। मैं उसके साहस, उसकी जान-निसारी पर स्तब्ध रह गया। उस समय याद आ गया —मेरी भी तो माँ है,...... ।

परन्तु परमेश्वर का न्याय क्या यही है। उस बेचारी का मकान उजड़ गया, बच्चे रुल गये। वह नन्हीं सी जान ! मैं पूछता हूँ—क्या न्याय यही है ?

कौवे सामने की दीवार पर पंक्ति में बैठे थे। चोंच को दायें बायें घुमा, ऊपर-नीचे कर वह अपना पेट भरने की फ़िकर में थे। तब मुझे ख़्याल आया—अभी इनके मुंह का कौर छीन अपनी समझ में मैं बड़ी दया कर बैठा हूँ।

गिलहरी के प्रति मेरे कम उलाहने नहीं हैं। पिछले दिनों मटरों की क्यारी में अंकुर फूटते ही इन दुष्टों ने अपने पिछले पैरों पर बैठ एक-एक अंकुर चुन-चुन कर, गिन-गिन कर काट दिया। उड़न बिहार की

(Linaria) की फूलों से लदी डालियाँ काट कर डाल दीं। गुल दाउदी (Crysenthimum) के टहकते हुए फूल जिनके बोझ से टहनियाँ गिरी पड़ती थीं इन्होंने सैकड़ों काट दिये। जहाँ कहीं कोई नरम कपड़े का टुकड़ा, रूमाल या कुछ और नीचे पड़ा पाया, अगले पंजों से उसे गोल-गोल समेट वह घोंसले में बिछाने के लिये ले चलीं। इनका ध्यान उधर से हटाने के लिये मैंने दाल, दलिया बिखराया, डबल रोटी इन्हें खिलायी। इन्होंने सब कुछ खाया और फिर भी फूल ख़राब किये।

परन्तु न जाने क्यों इनके प्रति मोह होता है। जब डबलरोटी जंगले के पास नहीं पातीं तब मुँह उठा ऐसे मांगती हैं कि रहा नहीं जाता। विवश मुख से प्यार के निरर्थक शब्द निकल पड़ते हैं—रोटी डाल देता हूँ।

फुलवाड़ी ही उजाड़ती हों, शेष जीव-जन्तु की यह हत्या न करती हों, सो भी बात नहीं! दीमक के बिल को खोद कर जब यह चुन-चुन कर कीड़े खाती हैं, तब क्या उसकी गिनती रह जाती है। परन्तु उन्हें मैं पुचकार कर चीनी लगा कर डबलरोटी खिलाता हूँ और कौवा जब उस रोटी पर झपटता है, तब उसे मिलता है—ढेला-पत्थर।

कौवे के ख़िलाफ़ केवल एक ही शिकायत है, वह एक दिन थोड़ा सा साबुन ले गया था। लेकिन यही मेरा न्याय है, शायद यही मेरी दया है! जो कुछ हो परन्तु परमेश्वर भी तो देखता है, वही क्या कुछ करता है! उसे न अपने बनाये इतने सुन्दर फूलों की फ़िकर है न दीमकों की, न गिलहरी की, न कौवों की और न मनुष्यों की ही—मुझे ही क्या इस मुसीबत में यों फँस जाना चाहिये था!

वह गिलहरी बड़ी ही व्याकुलता से इधर-उधर से मूंज, सन

और चीथड़े बटोर रही थी, वह रोटी का टुकड़ा उठाने नहीं आयी, मैं दोनों बच्चों को जंगले के समीप रख रखवाली के लिये बैठा था।

Carducci का De Risorle बिल्कुल न पढ़ सका—वह गया भाड़ में। पौने छः बजे मैं बैरिक में बन्द हो गया। मैं जंगले के पास ही बैठा था। वह गिलहरी नया घर बनाने की फ़िक्र में यों परेशान थी कि बच्चों की फ़िक्र में इधर आ ही न पायी। बच्चों को रात भर के लिये जाली की डोली में बंद करने की सोच ही रहा था कि 'पट' से आवाज़ हुई। देखा, उसका तीसरा बच्चा ज़मीन पर गिर पड़ा और उसके साथ ही उसका अधबना घोंसला नीम की पत्तियों में उलझ कर लटकने लगा। सोचा, अब की बार ज़रूर मर गया। हाय! वह व्यग्र नन्ही सी जान फिर दौड़ती हुई चली आयी। उसके स्पर्शमात्र से बच्चा फिर चेतन हो गया। वह चाटना-चूमना, उस नन्हें से दिल से—शायद वह एक रत्ती भर का होगा, ममता का महानद उमड़ा पड़ रहा था। वह उसे फिर मुंह में दबाकर ले चली। बच्चे को डाल पर बैठा उसी समय फिर नये सिरे से घोंसला बनाने का उसने लग्गा लगाया। धैर्य और साहस की सीमा क्या कहीं इसके भी आगे है? उसकी वह नन्हीं सी जान और उसकी वह शक्ति! आश्चर्य का विषय कोई क्या और होगा! परन्तु परमात्मा!—वह कहाँ है और वह क्या कर रहा है?

अँधेरा होने लगा था। दोनों बच्चों को ज़रूर भूख लगी थी। आँख में दवाई डालने की नली से मैंने ज्यों त्यों दोनों को दूध पिलाया। वह दुमकटा बहुत घबराया हुआ था। दूध नहीं पीता था दूसरे ने तो कुछ पिया।

रात में गिलहरी को बच्चों से मिला देने का उपाय सोचा। नया घोंसला बनाने के लिये सन और मूंज की तलाश में वह ज़रूर

दौड़ेगी, इसलिये उसके पुराने घोंसले की नरम नरम सन में दोनों बच्चों को लपेट धूप होने पर नीम की जड़ के पास रख दिया। गिलहरी बहुत तड़के से ही बावली सी इधर-उधर भाग-दौड़ कर रही थी। सुबह बच्चों ने रात की अपेक्षा नली से कुछ अधिक दूध पिया और उनकी घबराहट भी उतनी नहीं रही थी। बल्कि वे मेरी अंजुली छोड़ जमीन पर बैठने में हिचक रहे थे।

माँ की सूरत देख······धूप खा बच्चे हाथ-हाथ भर ऊपर तने पर चढ़ गये। गिलहरी कूद कर आयी······और फिर······सभी बड़े-बड़े कवियों ने करुणा और वात्सल्य के चित्र खींचे हैं पर······इसके आगे सब हेच !

मुंह में एक बच्चे को दबा वह ले चली, परन्तु कहां······उस नीम पर नहीं। कोई तीस गज़ परे, बीच में एक पेड़ छोड़ दूसरे एक बड़े नीम पर। कल साँझ को जो उसका बच्चा टपक पड़ा था उसी से जितनी देर में नया घोंसला बनेगा उतनी देर बच्चे कहाँ रहेंगे ? फिर पल पल पर वर्षा······यही सब सोच-विचार कर कोई कोटर ढूँढ कर उसने बच्चे को टिका दिया है, ऐसा जान पड़ता है। दो-तीन मिनिट में वह फिर आयी, दूसरे बच्चे को ले गयी। बच्चों को सकुशल माँ की गोद में पहुँच जाने से ख़ुशी तो ज़रूर हुई परन्तु उनका साथ छूट जाने से कुछ कुछ वियोग-दुःख भी ज़रूर हुआ।

× × ×

क्या !······मैं जानता हूँ······तुम यही तो कहोगी कि परमात्मा ने मेरे द्वारा उनकी रक्षा की ! ठीक मेरे द्वारा कौवे के मुख का कौर छीना और जब तीनों बच्चे जवान हो कर हज़ार-हज़ार दीमकों की हत्या करेंगे, तब परमात्मा किसके द्वारा क्या करेगा ?

अस्तु, तुम बात सुनो—कुछ देर मेंह बरस कर थमा था। मैं ज़रा चहल-क़दमी कर रहा था। जगह-जगह पानी खड़ा था वह गिलहरी फिर आयी! उस सन का गोला पंजों से बांध वह उठा कर चली। वह बोझ उसके लिये अधिक था और जगह-जगह ठहरा हुआ पानी—उसके लिये वह सब बड़े-बड़े तालाबों से क्या कम था? रुक-रुक कर, हाँफ-हाँफ कर वह उस बड़े-बोझ को लिये जा रही थी। जीवन-संसार में क्या है? एक निरंतर चिंता और कष्ट!

यह तो है गिलहरी की बात! ज़मीन पर जहाँ-तहाँ पड़ा चारा दाना चुग लेने से उसका पेट भर सकता है और पेड़ की कोटर उसके लिये घर है। परन्तु हाय रे मनुष्य! तेरे तो हर एक काम में हज़ार झंझट है और फिर तेरे सिर पर कौन मुसीबत नहीं? आँधी-पानी है, आग और बाद है, भूचाल है, उस पर चोर डाकू हैं, अत्याचारी की स्वेच्छाचारिता है और यह सब तुम्हारे दयामय परमेश्वर की इच्छा से, उसके न्याय से।

चोरी मत कर

उपनिषद में लिखा है—'माग्रधः कस्यस्विद्धनम्'—किसी का धन लेने का यत्न मत करो। इतनी अमूल्य बात हमारे ऋषि हमें उत्तराधिकार में दे गये, इस बात का हमें अभिमान है। यह बात सोचकर अभिमान से मेरा सिर ऊँचा हो गया। पर उसी समय ख़याल आया उन नुक्ताचीन लोगों का, जो हर बात में पख निकाल सकते हैं।

जानते हो वे क्या कहेंगे?—वे कहेंगे ऐसी अमूल्य बात तो दुनिया भर के सभी धर्म-ग्रन्थों में लिखी मिलेगी और यदि 'कल्लू-धुनहे' और 'जगन-मोची' भी—जिनके वंश में जहाँ तक इतिहास की पहुँच है कभी किसी ने काला अक्षर नहीं पढ़ा—इस बारे में यही राय देंगे।

किसी के धन को यदि कोई न ले तो इस संसार के सब संकट दूर हो जायँ। संसार से झगड़े-झंझट दूर हो जायँ, कचहरी, हाईकोर्ट, पुलिस, जेल न रहे और फौजें न रहें। संसार को जंगी जहाज़ और बड़ी-बड़ी तोपें न बनानी पड़ें और शायद दुनिया के तीन चौथाई काम ही बन्द हो जायँ।

किसी के धन को कोई न ले! संसार की शांति के इस सूक्ष्म और महा मंत्र को कौन नहीं जानता? संसार के प्रकाण्ड महा विद्वान से लेकर नर-पशु तक सब इस सत्य को जानते हैं परन्तु उनका यह सत्य-ज्ञान व्यर्थ है। संसार अब भी छीना-झपटी और मार-काट में तबाह हो रहा है।

× × ×

सूर्योदय की प्रथम लाली क्षितिज पर प्रकट हो रही थी और उस ओर देखकर मैं यह सोच रहा था कि सूर्य की किरणों के पृथ्वी पर फैलते ही सब ओर दूसरे के धन को हड़प लेने का कारोबार शुरू हो जायगा। पक्षी उठेंगे और वृक्षों के धन फलों पर टूट पड़ेंगे। मधु-मक्खियाँ जागेंगी और फूलों के धन मधु पर धावा बोल देंगी। पशु घास के शरीर पर दाँत मारेंगे और हिंसक पशुओं का तो कहना ही क्या! लाला जी दूकान को बुहार कर गाहक की जेब में पड़े पैसों की ओर नज़र लगायेंगे। मज़दूर मालिक की तिजोरी में पड़े पैसे को हथियाने के लिये उसकी मर्ज़ी के मुताबिक मेहनत करने को तैयार होगा और मालिक मज़दूर के शरीर की शक्ति को चूस कर रुपये की शक्ल में बटोरने के लिये उसे मज़दूरी का प्रलोभन दे फंसाने की कोशिश करेगा। दुनिया में ऐसा कौन है जो केवल शौक़ से या दूसरों का भला करने के लिए ही सुबह उठकर अपनी हड्डियाँ घिसने को तैयार होगा? कोई नहीं, कोई नहीं! सब डाकू हैं, सब चोर हैं, सब ठग हैं। यह दुनिया स्पर्धा, लूट, चोरी और अन्याय से भरी है। क्या यह रहने लायक जगह है? भगवान् बुद्ध ने संसार में यह अन्याय देखा और उन्हें वैराग्य हो गया, उन्होंने इस अन्याय को दूर करने के लिये अपना जीवन बलिदान कर दिया; परन्तु क्या संसार के इस अन्याय में रत्ती भर भी कमी हुई। वह तो वैसे ही चला जा रहा है। इस लिये मैं वैराग्य लेना व्यर्थ ही समझता हूँ। परन्तु अन्याय—अर्थात् दूसरे के धन को कोई छीन ले, यह कैसे गवारा किया जा सकता है।

\+ \+ \+

नीम की हरी-हरी टहनी को देखकर दातुन तोड़ लेने के लिये मन में लालच उठा और दतून तोड़ ली। तब ख़याल आया कि यह भी

तो पाप था। वृक्ष के शरीर का अंग तोड़कर उसे दांतों में कुचलना! डा० बोस का कहना है कि वृक्षों में भी प्राण हैं संज्ञा है, फिर क्या यह पाप नहीं? परन्तु शास्त्रों का मत यह है कि सम्पूर्ण संसार की सृष्टि मनुष्य के उपयोग के लिये है इस सिद्धान्त को माने बिना मनुष्य का जीवित रहना सम्भव नहीं। इसलिये मैं भी इसे मानता हूँ और जो इसे नहीं मानता उसे सभी विद्वानों की तरह मूर्ख मानता हूँ।

वृक्ष, शाक, पात, फल इन सब में साइंस ने जीव सिद्ध कर दिया तो क्या? हम यह जानते हैं कि इनकी रचना और जीवन-शक्ति इतनी कम है कि वे हमारे उपयोग के सिवा और किसी काम के नहीं।......ठीक है, हमारे मुहल्ले के लालाजी का भी यही ख़याल है कि शहर के मज़दूर और गांव के किसान इतने निचले दर्जे के आदमी होते हैं कि ज़मीन्दारों, साहूकारों और दूसरे बड़े आदमियों के उपयोग में आने के सिवा संसार में उनके अस्तित्व की कोई सार्थकता नहीं। यह लोग पशुओं और वनस्पति के समान ही ऊंचे दर्जे के मनुष्यों के उपयोग के लिये ही संसार में पैदा हुए हैं। लालाजी ने सफलता का पाठ अनुभव की पुस्तक से पढ़ा है। वे धोखा नहीं खा सकते।

इतिहास भी तो यही बताता है। एक बहुत ऊंचे दर्जे का आदमी था राम और दूसरा रावण। उनके उपयोग के लिये लाखों आदमी ख़तम हो गये। ऐसे ही कौरव-पांडव थे, सिकन्दर, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, पृथ्वीराज, महमूद, बाबर, अकबर, नेपोलियन—सब इसी तरह के ऊंचे दर्जे के आदमी थे, जिनके उपयोग के लिये हमारे तुम्हारे जैसे साधारण आदमी काम आये। हिटलर, मुसोलिनी और चेम्बरलेन भी उसी दर्जे के आदमी हैं। उनसे नीचे दर्जे के आदमी हैं हमारे लालाजी,

हमारी मिल के साहब और दूसरे बड़े कहलाने वाले आदमी ज़मींदार या ताल्लुकेदार। इसके बाद हमारी गिनती आती है। हम त्रिशंकु की श्रेणी के आदमी हैं। बड़े आदमी हमें अपने उपयोग की चीज़ समझते हैं और छोटी श्रेणी के आदमियों को हम अपने उपयोग की चीज़ समझते हैं। छोटी श्रेणी के आदमी गाय, बैल, घोड़े, गदहे को अपने उपयोग की चीज़ समझते हैं और यह जानवर क्या यही अन्तिम चीज़ है ? नहीं, यह वनस्पति-घास, पत्ते को अपने उपयोग की चीज़ समझते हैं। यह वनस्पति वायु और मिट्टी में शामिल अणुओं, परमाणुओं को अपने उपयोग की चीज़ समझते होंगे और उसके आगे मुझे कुछ मालूम नहीं। ऊपर की ओर परमात्मा से परे मेरी कल्पना नहीं पहुँचती और नीचे की ओर वायु और मिट्टी के अणुओं और परमाणुओं से परे हमारी साधारण साइंस नहीं पहुँचती। ऊपर से नीचे तक जहाँ भी देखता हूँ शक्ति का अधिकार अपने से कम शक्तिशाली को हमें अपने से कम ताक़त के प्राणी या चीज़ को हमारे उपयोग की चीज़ समझने का अधिकार दे देता है।

× × ×

प्रभात की लाली और शहर के बाहर के एकांत में बेमतलब ख़याल आ जाने से समय का ध्यान नहीं रहता। अचानक ध्यान आया पड़ोस में किसी के घर में पुत्र जन्म हुआ है, उसके यहाँ बधाई देने जाना है।

पुत्र-जन्म पर बधाई दी जाती है और पुत्र प्राप्त करने वाले जलसा करते हैं, कितनी बेवकूफ़ी है दुनिया में !

अगर मैं अपना यह ख़याल सब को सुनाऊँ तो लोग उलटे मुझे ही बेवकूफ़ बनाने लगेंगे। परन्तु मैं यह सोचता हूँ कि इस दुनिया में जो कुछ भी है जितने पदार्थ या सम्पत्ति है, उस सब के तो मालिक

मौजूद है फिर यह जो नए पैदा होने वाले छलांगें मारते चले आते हैं, यह क्या करेंगे ! इनके पैदा होने के समय भगवान खेती के लायक़ ज़मीन और दूसरे उत्पत्ति के साधन उनके साथ एक बण्डल में बाँधकर क्यों नहीं भेज देते ? यह लोग अगर मौजूदा मनुष्य-संख्या की मिल्कियत में छीना-झपटी नहीं करेंगे तो गुज़ारा कहाँ से करेंगे !

यह मैं मानता हूँ कि दुनिया में अगर आदमी पैदा होते हैं तो मरते भी हैं। परन्तु मनुष्य-समाज के दुर्भाग्य से जितने मर कर जगह ख़ाली कर के जाते हैं उससे कहीं अधिक बढ़े चले आते हैं तभी तो संसार की मनुष्य-संख्या बढ़ती चली जाती है, और किसी दूसरे के धन को छीनने का सवाल सामने आये बिना नहीं रह सकता।

पैदा होते समय कोई साथ तमस्सुक या चेक लेकर नहीं आता। बाप अपनी कमाई से ही पुत्र को धनवान बना कर ख़ुद चला जाता है। पुत्र बाप की मिल्कीयत का मालिक बन जाता है। यह न्याय सीधा है, इस न्याय से हम इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि अमीर के घर में पैदा हुए बच्चों को मालिक और गुलाम के घर में पैदा होने वाले बच्चों को गुलाम बनना चाहिये और पैदा हो जाने के बाद की हालत में किसी क़िस्म की रद्दोबदल हो जाना अन्याय है क्योंकि बिना किसी का धन लिये कोई अमीर हो नहीं सकता।

ख़ैर, भगवान की इच्छा से जो सम्पन्न घर में पैदा हो गये उन्हें अमीर बने रहने का हक़ है, इस न्याय-संगत बात को मानकर भी एक शंका मन में पैदा हुए बिना नहीं रहती और वह यह कि किसी का बाप क्योंकर अमीर हो जाता है।

कोई एक वंश सृष्टि के आदि से अब तक मालिक नहीं रहा। राजा रामचन्द्र और सिकन्दर के ख़ानदान में वारिस होकर मालिक

बनने वाले का पता ढूंढने पर भी कहीं नहीं लगता और जिन ख़ान-दानों के नाम इतिहास में मिल्कियत के नाते कहीं दर्ज नहीं वे अब अन्न-दाता और छत्र-पति का ख़िताब लिये बैठे हैं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि भगवान ने कर्मों के फल से सृष्टि के आदि में ही मालिक और नौकर का दर्जा अलग अलग कर दिया हो। हम उन्हें यहीं बनता-बिगड़ता देखते हैं। उनका यह बनना-बिगड़ना भी एक अधिकार और एक क़ायदे से होता है और वह अधिकार या क़ायदा है शक्ति, ताक़त, बल और उसे भले मानसों के समाज में न्याय का नाम दिया जाता है। इसके विपरीत कमज़ोरी, निर्बलता और असहाय होना अपराध है!

बात कुछ अच्छी नहीं मालूम देती, पर है ठीक! अबीसीनिया के देश पर मुसोलिनी चढ़ दौड़ा! सभ्य संसार ने निन्दा और विरोध की आवाज़ उठाई परन्तु इन निन्दा और विरोध के आवाज़ों में इतनी ताक़त न थी कि अबीसीनिया को मुसोलिनी की तोपों की मार से बचा लेते। अबीसीनिया मुसोलिनी की सम्पत्ति बन गया। कुछ दिन संसार के बड़े बड़े राष्ट्रों ने इस अन्यायपूर्ण मिल्कियत को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और यह एक बड़े भारी अन्याय के रूप में हमारे सामने खड़ा रहा, परन्तु इटली की बढ़ती हुई शक्ति ने इसे शनैः शनैः न्याय बना दिया और अगर अब अबीसीनिया के निवासी विद्रोह कर स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहें तो वह बाक़ायदा अपराध होगा। संसार इसे अपराध कहेगा। और यह दर असल अपराध होगा क्योंकि यह शक्तिशाली मुसोलिनी की इच्छा और हित के विरुद्ध कार्रवाई होगी।

तोप, तलवार, बन्दूक़ और हवाई जहाज़ न्याय के हथियार हैं और वे ही न्याय का रूप हैं इसी लिये हमारे बुज़ुर्ग हमेशा हरबा-हथियार

से लैस रहते थे। लेकिन सब लोगों का यों बन्दूक तलवार लिये फिरना ठीक नहीं, इससे गड़बड़ होती है, हरदम आशंका बनी रहती है। इससे बड़ी दूसरी एक और ताक़त है और वह ताक़त अलादीन के चिराग़ से बढ़ कर है, वह खुद अल्लाह का चिराग़ है—रुपया! इस रुपये से तोप, तलवार और बमबाज़ हवाई जहाज़ आपकी ख़िदमत में हाज़िर रहेंगे, आप मसनद पर बैठ कर हुक्का सटकिये, आपके हुक्म से जिस पर और जहाँ आप चाहेंगे खून की नदियाँ और हड्डियों के पहाड़ खड़े हो जायँगे। रुपया ही वह डोरी है जो तोप, बन्दूक और तलवार को चलाता है।

शक्ति मनुष्य के हाथ पैर में है या धातु के टुकड़ों में! यह बात समझने के लिये ज्ञान-दृष्टि की ज़रूरत है। आप यह बताइये धन रुपये की थैली में है या हुण्डी, चेक के काग़ज़ में! धन तो असल में है, मनुष्य की मेहनत में ही परन्तु रुपया उस मेहनत का चेक या हुण्डी है। मनुष्य के परिश्रम को या शक्ति को रुपये के रूप में जो जितनी अधिक मात्रा में संचय कर लेता है वह उतना ही शक्तिशाली है, उतना ही अधिक न्याय का स्वामी है। ऐसे शक्तिशालियों की समाज के हित के अनुकूल जो बात हो वह न्याय है।

यह शक्तिशाली लोग जो तरीक़ा दूसरे के धन को हथियाने का न्यायपूर्ण स्वीकार कर लें वह न्याय और जिसे वह अन्याय कह दें वह अन्याय। उदाहरण के तौर पर किसी के घर में घुस कर उसकी कमाई उठा लाना चोरी और पाप है परन्तु किसी व्यक्ति से दिन भर मेहनत कराकर उससे २।) रु० का काम कराकर उसे १ रु० देकर टाल देना चोरी नहीं, अन्याय नहीं, किसान की, मज़दूर की पैदावार को घर में बटोर कर किसान और मज़दूर से ही उसके दाम माँगना न्याय है और जब

किसान-मज़दूर कहे कि मेरी मेहनत के फल को तुम सब का सब मत हड़प जाओ, कुछ तो मुझे भी दो, तो वह शांति भंग करना है।

यह न्याय कैसा है, मुझे तो यह लाठी का ही न्याय जान पड़ता है। मेरा विश्वास है, सेठ जी की कृपा से थाली भर खीर खाकर ही परम तपस्वी ऋषियों ने यह उपदेश दिया था—"मागृधः कस्य स्विद्धनम्"—चोरी मत कर! और इसी न्याय की स्थापना राजा और उसकी सरकार करते चले आये हैं।

राजा ने और राजा की बिरादरी के अमीर आदमियों ने ऋषि और धर्मात्मा विद्वान लोगों से कहा—हमारे पास जो धन और शक्ति है वह हमारे ही हाथों में रहनी चाहिए, इसे हमसे छीनने का प्रयत्न कोई न करे। ऋषियों ने कहा—अन्नदाता यही तो न्याय है। इस न्याय को क़ायम करने के लिये एक बड़ी लाठी सेना की शक्ल में और पुलिस की शक्ल में तैयार की गई और यह लाठी न्यायालय और सरकार की मुट्ठी में थमा दी गयी।

सरकार और न्यायालय अमीरों, ज़मीदारों और पूँजी-पतियों की मुट्ठी है; यह बात कहना क्या उचित है? बुज़ुर्ग और विद्वान सदा से हमें सिखाते समझाते आये हैं कि न्याय और सरकार के सामने ग़रीब और अमीर सब एक हैं; बल्कि ताक़तवर आदमियों से ग़रीब की रक्षा करने के लिये ही राजा और सरकार की स्थापना हुई। मनुष्य हिंसक पशुओं की तरह छीना-झपटी और लूट-खसोट न करे, इस लिये सरकार की स्थापना हुई। यह बात तो समझ में आती है परन्तु सवाल यह है कि छीना-झपटी और लूट-खसोट से डर किसे है?—क्या ग़रीब को?

आम तौर पर कहा जायगा ग़रीब को! पर मैं यह सोचता हूँ कि ग़रीब से क्या कोई क्या छीने-झपटेगा? और निर्बल या कमज़ोर कोई

व्यवस्था चलाना चाहेगा तो किस बिरते और ताक़त पर उसे चला पायगा ? इस लिये मुझे तो यही समझ में आता है कि ग़रीब को शासन सरकार और व्यवस्था क़ायम करने की न तो ज़रूरत थी और न उसके पास उसके साधन ही थे। अगर छीना-झपटी का किसी को डर था तो उसे, जिसके पास इतना धन एकत्र होगया था कि उसे लुटेरों का डर होगया था और उसके हाथ में सरकार और व्यवस्था क़ायम करने का साधन भी मौजूद था। ऐसा आदमी या ऐसी श्रेणी कौन थी ? वह चाहे जो रही हो पर वह गरीबों की साधन-हीनों की श्रेणी नहीं थी इस बात को मैं दावे से कह सकता हूँ।

इतिहास के पन्ने पलटिये—राजा और उसके सामन्त कभी ग़रीब नहीं रहे। वे सदा सोने-चांदी के जेवर और रेशम के कपड़े पहन कर सिंहासन और रथ पर बैठते रहे हैं और उन्हें सदा इस बात का डर रहा है कि क्षुब्ध प्रजा हल्ला कर सब कुछ छीन न ले जाय। देखिये इतिहास बताता है कि पुराने ज़माने में स्वामी लोग दासों को नियंत्रण में रखते थे उस समय शासन और व्यवस्था की ज़रूरत दास को नहीं बल्कि स्वामी को ही रही होगी। फिर सामन्तों के समय में शासन और सरकार की व्ययस्था सामन्त सरदारों की इच्छा द्वारा सामन्त सरदारों के हित की रक्षा करने के लिये ही रही और आज दिन भी जिनके हाथ में पूँजी है और जिनके हाथ में ज़मींदारी है, शासन और व्यवस्था उन्हीं की इच्छा अनुसार उन्हीं के हित के अनुकूल है।

शासन और सरकार है क्या ? वह किस लिये है ?—शासन और व्यवस्था है समाज की रक्षा के लिये। समाज की रक्षा का अर्थ है समाज जिस ढंग ढांचे से चल रहा है, उसे उसी ढंग ढांचे पर चलाया जाय। उसमें परिवर्तन का उपद्रव खड़ा न किया जाय ! और समाज क्या है ? स्थूलरूप में समाज है—हमारे सम्मिलित जीवन का क्रम ! हमारे सम्मि-

लित जीवन के क्रम में जीवन के आधार, जीवन के लिये उपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति और बँटवारे का नियंत्रण ही सबसे बड़ी बात है बाकी सब बातें इस मूल धुरी के चारों ओर घूमती रहती हैं और मूल धुरी है समाज में एक ऐसी श्रेणी का मौजूद होना जो सम्पत्ति के रूप में उत्पत्ति के सब साधनों को समेटे हुए है और दूसरी उस श्रेणी का होना जो सम्पत्ति या उत्पत्ति के साधनों के अभाव में सम्पत्ति-शाली या पूँजपति श्रेणि के हाथों में पैदावार के साधन के रूप में काम करती है। जैसे घोड़ा एक जीव है और इक्केवाला भी एक जीव है और इक्का है उत्पत्ति का साधन। इक्के वाला घोड़े को इक्के में जोत कमाई करता है। घोड़े का चारा-दाना खिला बाक़ी पैसा जेब में रखता है। इसी प्रकार पूंजीपति श्रेणी, उत्पत्ति के साधन और मज़दूर का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध जो धन है वह जायगा इक्केवाले, यानी पूंजीपति के पास! और उस धन की रक्षा के लिये पूंजीपति को एक सरकार खड़ी करनी पड़ेगी ताकि न्याय और शांति की रक्षा हो। और इस न्याय और शांति की रक्षा का अर्थ होगा—कोई किसी का धन न ले!

समाज में शांति और न्याय क़ायम रखने का सूत्र और नियम है—'कोई किसी का धन न ले' और हमारे समाज की व्यवस्था का उद्देश्य और आधार है, एक श्रेणी दूसरी का धन लेकर अपने पास रखकर शक्ति-शाली बने और फिर उस धन की रक्षा के लिये धन-हीन श्रेणी का दमन करने के लिये सरकार क़ायम करे।

हमारे समाज की शांति और व्यवस्था की रक्षा का यह सब सरंजाम मुझे केवल एक खेल दिखाई देता है और यह खेल है, चोर-चोर का खेल! इस खेल में कौन चोर' और कौन शाह' यह मैं कैसे बता सकता हूँ? लेकिन मैं भी कहता हूँ—चोरी मत करो!